वर्ष ३७ अंक १०
१५ जनवरी २००५/१४ फरवरी २००५

नागरी पत्रिका

हे राम

मज़हब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना,
हिन्दी हैं हम, वतन है हिन्दोस्तां हमारा ।
- मो. इकबाल

नागरीप्रचारिणी सभा
वाराणसी

संस्थापक संपादक
स्व. पं. सुधाकर पाण्डेय

श्रद्धांजलि
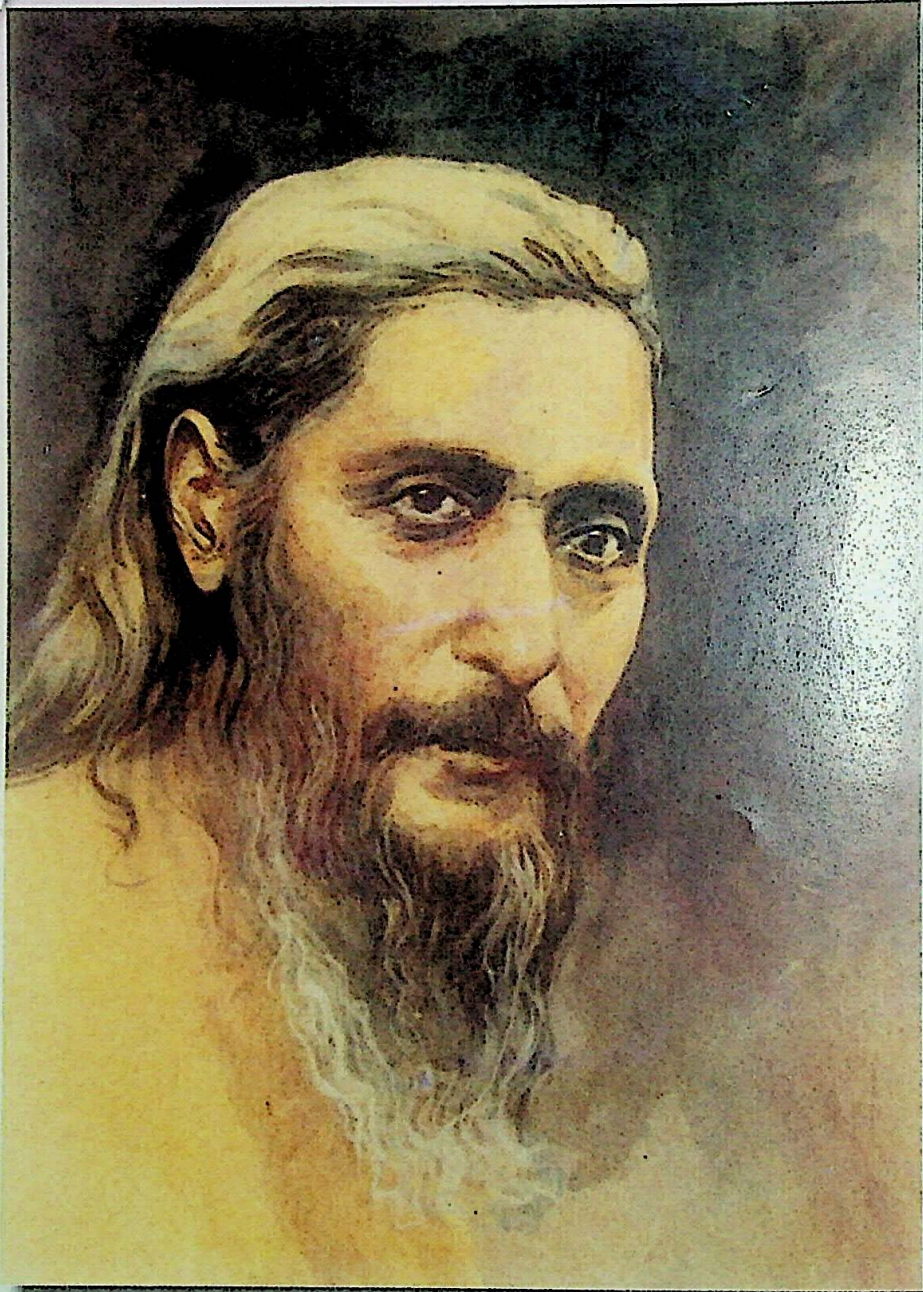
सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

जन्म–21 फरवरी, 1896 – अवसान–15 अक्तूबर, 1961

वर्ष ३७ १५ जनवरी २००५ - १४ फरवरी २००५ अंक १०

संस्थापक संपादक
स्व. पं. सुधाकर पांडेय

●

संपादक मंडल
प्रो. विजयपाल सिंह
डॉ. शितिकंठ मिश्र
पं. विश्वंभरनाथ द्विवेदी
डॉ. शकुंतला शुक्ल
प्रो. श्रीनिवास पांडेय
पं. हिमांशु उपाध्याय
डॉ. कुसुमाकर पांडेय

●

संपादक
डॉ. पद्माकर पांडे

●

शुल्क
वार्षिक रु. ६०.००
प्रति अंक रु. ६.००

●

दिल्ली कार्यालय
पं. सुधाकर पांडेय नागरी भवन
ए-१६, अरुणा आसफ अली मार्ग
नई दिल्ली-११००६७

●

टेलीफोन
वाराणसी - २३३१२७७, २३३१४८८
फैक्स- ०५४२-२३३१४८८
नई दिल्ली- २६५६५८७२, २६५६५८४७
२६८६२६८६, फैक्स-०११-२६५११६७४
ई मेल : Nagri @ del.3. vsnl.net.in

मन, क्रम, बचन छाड़ि चतुराई

मो. इकवाल का गीत प्रतिवर्ष गणतंत्र दिवस तथा स्वतंत्रता दिवस के अवसर पर जोर-शोर से सुनाई देता है- 'सारे जहाँ से अच्छा, हिन्दोस्ताँ हमारा'। यह सुनकर शायद ही कोई भारतीय हो जो आत्म विभोर न हो जाता हो और हो भी क्यों न! ये बोल हमें हमारे राष्ट्रीय समृद्धि की पावन स्मृति को उजागर कर गौरवान्वित करती हैं। राष्ट्र सर्वोपरि होता है। उससे जुड़ी सभी चीजें हमारी विरासत की याद दिलाती है और मन को रसीभूत कर देतीं हैं। यही है हमारी विरासत की गौरवमयी अनुभूति और उसकी समृद्ध प्रस्तुति। इस अनुभूति से जुड़े सभी प्रसंग सहज हैं, इनमें किसी भी प्रकार की अनियमितता नहीं। कहीं से भी किसी प्रकार की चतुराई लक्षित नहीं हो पाती। मन, क्रम, वचन का यह कृत संकल्प भारतीय जीवन का पाथेय है। आज जन जीवन की परिकल्पना राष्ट्र से वाहर जाकर विश्व मानवता के परिप्रेक्ष्य में की जाती है। जयशंकर प्रसाद की पावन पंक्तियाँ 'अरुण यह मधुमय देश हमारा, जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा' आज सन्दर्भ विहीन वनती जा रही हैं। लोकतांत्रिक देश के कार्य का संचालन देश के संविधान के अनुरूप किया-कराया जाता है। हमारा भी संविधान है, गणतंत्र दिवस के दिन उसकी वर्षगांठ हम सभी मनाते हैं। हमारे संविधान में राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी को संकल्पित और उसकी प्रतिवद्धता को निर्विवाद प्रतिष्ठित किया गया है।

यह जानकर और सुनकर प्रत्येक भारतीय तरंगित भले ही होता हो पर दूसरी ओर खोखलेपन का यह कटु अहसास हमें पल में ही हिला देता है, डगमगा देता है। इसी देश में टैगोर के राष्ट्रगान पर विवाद खड़ा होते देख लोग विस्मय का अनुभव करने लगते हैं। एक वार फिर भारतेंदु का अमर सन्देश 'निज भाषा' का ध्यान आता है और इसके साथ ही साथ यह भी ध्यान आता है कि भारतीय गणतंत्र दिवस की पूर्व संध्या २५ जनवरी, १९६५ को दक्षिण भारतीय नेता अन्नादुराई के आह्वाहन पर दो नौजवानों ने आत्मदाह किया ताकि हिंदी को राष्ट्रभाषा न वनाया जाए। विवश होकर हिंदी प्रेमी व तत्कालीन गृहमंत्री श्री लाल वहादुर शास्त्री ने पत्रकार संमेलन के माध्यम से घोषणा की थी कि जव तक एक भी राज्य हिंदी का विरोध करेगा तव तक संविधान निहित हिंदी को राष्ट्रभाषा का गौरव प्रदान नहीं किया जा सकेगा। यह घोषणा गणतंत्र की ५६ वीं वर्षगांठ तक रद्द नहीं की जा सकी क्योंकि राज्यों की संख्या में वढ़ोत्तरी तथा विरोध के स्थान परिवर्तित हुए और फिर भी यह विरोध समाप्त नहीं हुआ। यह कैसी विवशता है? इस विषय पर महान भारत आज भी गूंगा है। भारत के विदेश मंत्री घोषणा करते हैं कि हिंदी को संयुक्त राष्ट्र संघ की भाषा वनाया जाएगा। यह घोषणा संयुक्त राष्ट्र संघ के साथ साथ विश्व हिंदी संमेलन के मंचों पर भी की

गई परंतु यह संकल्प आज भी अधूरा है। इन दिनों भारत में प्रवासी हिंदी साहित्यकारों का संमेलन साहित्य अकादमी के तत्वावधान में आयोजित किया गया। दूर देशों से प्रवासी भारतीय आए परंतु उन्होंने हिंदी की दशा का जो आंकलन किया वह शर्मनाक है। उन्हें बड़ी आशाएँ थी कि देश में हिंदी का बोलवाला मिलेगा परंतु ऐसा कुछ भी नहीं था, वह केवल कल्पना बनकर रह गयी। उन्होंने कहा कि हिंदी को देश में सींचें, वह विदेश में खुद फैलेगी। हालत यह है कि मुंबई में आयोजित प्रवासी भारतीय संमेलन में ही अध्यक्षता कर रहे राष्ट्रीय सलाहकार परिषद के सदस्य, सैमपित्रोदा ने एक वक्ता के हिंदी में बोलने पर सार्वजनिक माफी मांगी। अतः हिंदी का साकार और समृद्ध स्वरूप भारत में ही विकसित नहीं होने दिया जाता।

विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में भी हिंदी साहित्य की निर्बलता की प्रांत पुष्टि होती है। पाठ्यक्रमों को पढ़ाने की विवशता के कारण उन्हें 'हिंदी भाषा' का अध्ययन करना पड़ रहा है और वहाँ के अनुवादपरक साहित्य पर भाषा की समृद्धि अवलम्बित है। क्या यही हमारा राष्ट्रीय गौरव है? क्या इसी हिंदी को जनजीवन का आधार बनाने की सुदृढ़ और सुन्दर परिकल्पनाएँ की गई थीं।

'जय हिंदी जय नागरी' का घोष अब रोमन लिपि के शरणागत जा रही है। एक बार आवश्यकता है कि हम सब मिलकर पुनः खुले मन से राष्ट्रभाषा की दशा पर विचार-विमर्श करें।

– संपादक

इस अंक में

निराला और गीत गुंज

- पं. सुधाकर पाण्डेय

पं. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला हमारे महान् सांस्कृतिक कवि हैं। उनके जीवन का निर्माण साधना के उन महत्तम सूत्रों पर आधृत हैं, जो सत्य, सुंदर और मंगल की सृष्टि में जीवन का सर्वस्व समझते हैं। वे उस महान् जीवन साधना के प्रतीक हैं जो भारतीय ऋषियों एवं महर्षियों की साधना का जीवन संबल होता था। इस साधना में 'स्व' की आहुति से विचारों का दर्शन कर युग की मलीनता को, आलोकपूर्ण ज्योति दर्शन कराया जाता है तथा पीड़ित प्रताड़ित समाज को आशा और विश्वास का संदेश दिया जाता है। साधक का संबल इस आलोक सृष्टि के निर्माण में केवल आराधना हुआ करती थी। निराला जी का जीवन इस साधना, आराधना का पूंजीभूत मूर्तरूप है। उनका जीवन सतत त्याग-उत्सर्ग ही करता रहा है, मंगल और प्रकाश के संसार के निर्माण हेतु।

आज जब वे विषण्णमन हैं, क्षीण तन हैं तब भी उस साधना में तल्लीन हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार भारतीय भूमि के साधनाकालीन साधक। कहना न होगा कि जितने विविध प्रौढ़ प्रयोग उन्होंने आधुनिक हिंदी कविता में किये, उतने अन्य किसी ने नहीं। उनके ये प्रयोग सदैव हृदय को पुलकित करने वाली प्रेरणा से संवलित रहे हैं।

युग का कवि जिस समय नवीन काव्य की सृष्टि के लिये विह्वल था, उसी समय छायावादी काव्य के प्रतिष्ठापकों के रूप में पं. सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' क्रांतदर्शी मौलिकता लेकर आये। छायावाद की संकल्पनात्मक श्री वृद्धि में निराला जी ने क्रांति उपस्थित की। उनकी ओर सबका ध्यान एकाएक निर्बाध छंदों के कारण आकृष्ट हुआ। इन्हीं छंदों के कारण निराला को रूढ़िग्रस्त कविता प्रेमियों की भर्त्सना का भाजन बनना पड़ा। उनकी 'जूही की कली' का प्रकाशन क्रांति उपस्थित करने में सफल रहा। प्रायः लोग यह समझते थे कि छंदों के बंधन में ही रचना की जा सकती है। भाव सदैव छंद की कारा में बंदी रहते हैं पर 'निराला' ने भावों के संकेत पर इन छंदों का प्रणयन किया। इस अनहोनी बात को लय और सुर के ताल पर संगीत की स्वर लहरी में जिस कौशल के साथ निराला जी ने अभिव्यक्त किया वह उनकी शक्ति का परिचायक है। पं. नन्ददुलारे वाजपेयी ने इस संबंध में अच्छी तरह उत्तर दिया है कि 'पूछा जा सकता है कि जब नए छंद प्रयोग में आये, तब पुराने छंदों ने क्या विगाड़ा और इतने से ही क्या छंद की निवार्यता सिद्ध नहीं होती।' इसके उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि पुरानी कोठियों और महलों से जो दूर वातावरण में बने थे, बाहर निकल आना भी कभी क्रांति कहला सकती है, और नए आवास बनाकर रहना भी नये वातावरण का निर्माण करना कहा जा सकता है। ठीक यही बात निराला जी के छंद और उनकी छंदात्मक रचनाओं के संबंध में कही जा सकती है।

कल्पना की सूक्ष्मता, कला की बारीकियों के द्वारा जिस रूप में उनकी रचनाओं में अभिव्यक्त हुई, वह हिंदी काव्य के लिए अत्यंत गौरव की बात है। निराला जी की स्वच्छंदता उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। कल्पना से लेकर नये प्रयोगों तक जिस गंभीरता के साथ यह स्वच्छंदता उनमें दीख पड़ती है, उतनी हिंदी में किसी अन्य कवि में नहीं। प्रायः कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि उनके भाव, कथन, भाषा सभी विशृंखल हैं। वह उनकी बहुत बड़ी भूल है। स्वच्छंदता में भी भावों की श्रृंखला उनकी विशेष्ता है। निराला जी की पहली पुस्तकाकार रचना हिंदी जगत् के सम्मुख बहुत बाद में आयी, यद्यपि पत्रों में उनकी रचनाएं बहुत पूर्व ही प्रकाशित हो चुकी थीं। 'परिमल' में उनकी मौलिकता तथा युग विधायनी कृतित्व की क्षमता मिलती है। 'परिमल' में निर्बाध छंद में रचा हुआ 'पंचवटी प्रसंग' 'शिवाजी का पत्र' आदि ऐसी रचनाएं हैं जो सजीव और प्राणवान अभिव्यक्ति अपने भीतर समेटे हुए हैं। कल्पना प्रधान विशुद्धभावनाओं की अभिव्यक्तिमयी रचनाएं 'जूही की कली' आदि हैं। 'परिमल' के भीतर दृश्य का चित्र उपस्थित करने वाली ऐसी अत्यंत सुंदर रचनाएं भी हैं, जो कवि की मानस की गहराई का चित्र उपस्थित करती हैं, जिनमें प्रकृति की झलक से लेकर पूजा के मंदिर की शांत दीपशिखा भारत की विधवा भी है। कुछ रचनाएं ऐसी भी हैं जो कल्पना प्रधान होते हुए भी चमत्कारपूर्ण प्रभाव के कारण हिंदी की विशिष्ट रचना समझी जाती हैं। कुछ सहज भी हैं, और कुछ लंबी, कल्पना प्रधान अतीत का वैभव समेटे श्रेष्ठ सांस्कृतिक रचनाएं भी हैं। श्रृंगार की जो स्वस्थ भावना 'परिमल' में

अंकुरित दीख पड़ती है, 'गीतिका' उसका विकास है। गीतिका के गीत यद्यपि पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी को ठूँठे लगते हैं तो भी सहज मानवीय स्वस्थ, गंभीर संवेदनाशील भावना के कारण तथा लय की झंकार के कारण एक मनोहर अभिव्यक्ति, जो मौलिक भी है, गीतिका में दिखाई पड़ती है। इन गीतों की भाषा संस्कृत बहुल है किंतु सरसता का उनमें अभाव देखना बुद्धि का संतुलन नहीं माना जा सकता। इस कृति का हिंदी के गीत काव्यों में गौरवशाली स्थान है। 'गीतिका' के बाद निराला का विराट रूप हिंदी जगत् के सामने उपस्थित हुआ, जिसमें प्रयोग की विविधता, काव्यशक्ति की पूर्ण प्रौढ़ता दीख पड़ती है। राम की शक्ति पूजा', 'सरोजस्मृति' जैसी भावना प्रधान रचनाएं जो हिंदी की श्रेष्ठतम सुंदर कृतियों में से हैं, निराला जी ने इसी समय रचीं। गंभीर भावनाओं की गंभीरतापूर्वक अभिव्यक्ति जो हृदय को आंदोलित कर एक सारभौम छोड़ती है, उनके भीतर इन रचनाओं की गणना होती रहेगी।

● ● ● ●

सौ छंदों में गौड़ीय पद्धति पर निर्मित निराला की 'तुलसीदास' रचना अपने स्थान पर आज भी अकेली है। गंभीर भावभंगिमा के मनोवैज्ञानिक चित्रों को सांस्कृतिक भित्ति पर कला की जिस तूलिका से निराला ने इस कृति में सँवारा है, वह उनकी अपनी मौलिक विशिष्टता है। ध्वनि के चित्रों को उपस्थित करने वाला ऐसा सुंदर प्रबंधकाव्य खड़ी बोली की कविता में अकेला है। कुछ महाकवि कहे जानेवाले लोगों ने भी 'तुलसीदास' के पदों से पूरी पंक्ति की पंक्ति सुंदर समझ कर अपने काव्य में प्रयुक्त की है। शिकायत लोगों की यह है कि उनकी भाषा बड़ी अनगढ़ है। इस संबंध में कहना यह है कि सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का चित्र जैसा सजीव उस काव्य में उपस्थित किया गया है, क्यों नहीं बाद में ही कहीं कोई अपनी सरल भाषा में उपस्थित कर सका। कैलाश की ऊँचाई देखकर झाँई खा जाना आँखों का दोष हो सकता है। कैलाश की ऊँचाई उसकी अपनी विशिष्टता है।

इन रचनाओं के बाद निराला एक नये रूप में, अपनी व्यंग्य प्रधान यथातथ्य निरूपित करनेवाली रचनाओं के कारण, विशेष चर्चा के विषय बने। 'कुकुरमुत्ता' में व्यंग्य प्रधान शैली में, चलती भाषा में जिस प्रकार पूंजीपति के प्रतीक गुलाब को, जनता के प्रतीक कुकुरमुत्ता को उपस्थित कर व्यंग्य चित्रण किया वह व्यंग्य इतिहास में अपनी मौलिकता के कारण अत्यंत महत्व का है। अतिशयता का दोष इनके इन व्यंग्य-काव्यों में आ गया है। इन रचनाओं के अतिरिक्त उन्होंने 'परिमल' में जिन भावनाओं का बीजारोपण किया, बराबर उस शैली की विकसित रचनाएं करते रहे। 'अणिमा' और 'अर्चना' इसका उदाहरण हैं। 'बेला' और 'नये पत्ते' में उन्होंने छंदों में और नया प्रयोग किया। कवि की मूल भावनाओं का विकास अर्चना और आराधना के गीतों में है। 'अर्चना' और 'आराधना' के गीतों में भावना की जिस तन्मयता का दर्शन होता है वह आधुनिक हिंदी गीतकारों में गंभीरता की दृष्टि से किसी भी कवि में नहीं मिला। हिंदी साहित्य के एकमात्र वे ऐसे गायक हैं, जो जीवन की समस्त विपन्नता के होते हुए भी काव्य की आराधिका देवी भारती पर अटल निष्ठा रखते हैं। उस निष्ठा में जहाँ एक ओर तुलसी की भाँति हृदय निवेदन की असीम विनम्रता है, वहीं सूर और मीरा के गीतों की टीस भरी, रसमयता भी है।

'गीत गुंज' उस साधना परंपरा का वह स्वर है जो आत्मद्रष्टा ने जीवन के प्रांगण में देखा है। इसके प्रणेताओं ने कबीर के सबद और साखी से इसे महान् माना है। पर मुझे खेद है कि मैं कबीर से निराला जी के काव्य की तुलना नहीं कर सकता। यद्यपि मैं यह मानता हूँ कबीर महान थे, कबीर की देन महान है, उन्होंने अपने समय और समाज की सेवा की है, महती सेवा की है, ऐसी सेवा जो आज भी अनेकों के लिए प्रेरणा संबल है। पर मैं अपनी विनम्र राय में उस रागात्मक वृत्ति का पोषक या स्रष्टा उन्हें नहीं मानता, जो जीवन साधना के अतल से स्रोतस्विनी की भांति समाज और व्यक्ति की तृषा शांत करती है। कबीर तो मूलतः विवेकवादी रहस्यवाद का लोकोपयोगी अनुकरण करने वाले समाज सुधारक थे। भारतीय साधना परंपरा में लोकोपयोग मात्र की क्षमता लोकनिर्माण की अदम्य भावना भी होती है जो केवल विवेक मात्र पर आधृत नहीं रह सकती, वह तो हृदय की अनुभूतियों से युक्त योग है। वह उपयोग के साथ ही साथ नवनिर्माण के मंत्र का बीजारोपण एवं पल्लवन भी करता है। मैं निराला जी के इधर के गीतों को तुलसी की साधना परंपरा के विकास की कड़ी में रखना अधिक समीचीन मानता हूँ।

यद्यपि कविवर प्रसाद जी महाकवि तुलसीदास को आदर्श, विवेक और अधिकारी भेद का कवि मानते हैं, पर अनेक अर्थों में भारतीय संस्कृति के इस महान् अध्येता के विचारों से यहाँ अपने को सहमत नहीं कर पा रहा हूँ। 'विनय पत्रिका' तुलसीदास के हृदयसाधना का वह प्रबल प्रतीक है, जिसके स्वर सा हृदयग्राही स्वर आज तक हिंदी क्या अन्य भाषाओं में भी मिलना दुर्लभ है। कहना न होगा कि 'विनय

पत्रिका' उनके आत्म साधन की ज्याजल्यमान मूर्त्त वाणी है। निराला जी को जो लोग जानते हैं, या जिन्होंने उनकी रचनाएं पढ़ी हैं वे निश्चय ही यह मानेंगे कि वे तुलसी के महान प्रेमी हैं। स्वर्गीय मनोहरा देवी जो कवि की धर्मपत्नी थीं तथा जिनके प्रभाव के कारण आप हिंदी की ओर वढ़े वे रामायण की कितनी प्रेमी थीं, किसी से छिपा नहीं है। खड़ी वोली में रामायण के अनुवाद की बात भी नहीं छिपी है। 'तुलसीदास' के संवंध में पूर्व ही निवेदन किया जा चुका है। अतएव उनके हृदय की साधना को मैं तुलसी की परंपरा में रखना अधिक उचित समझता हूँ। इस संवंध में एक वात और कह देने की यह है कि तुलसी ने मर्यादा की अपनी सीमा वना ली थी, वह सीमा उन तत्वों का कभी भी स्पर्श नहीं कर पायी जो हृदय में रूप सौंदर्य-रंजन पक्ष का रागात्मक प्रतिनिधित्व करते हैं। वह तो सूर और मीरा की संपत्ति है। सूर और मीरा का यह रंजन गुण भी निराला की काव्य सीमा में जीवन के साथ ही घुल-मिल गया है।

मेरे कहने का यह अर्थ नहीं है कि यह प्रभाव उनके काव्य को लेकर है अपितु सहज ही जीवन के विकास के अंग के रूप में उन्होंने इसे ग्रहण कर लिया है। यह उनका अपना अपने जीवन का प्रभाव है। मूलतः तो वे पूर्वोक्त परंपरा में रखे जा सकते हैं। उनका जीवन भी तुलसी के जीवन के अधिक निकट है। तुलसी के पैरों में वेवाय फटी थी। उन्हें दानेदाने को ललल़ाना और विलविलाना पड़ा था। समाज के महान् तथाकथित पंडितों और आचार्यों का कोप भाजन वनना पड़ा था। प्रिया का स्नेह भी वे न प्राप्त कर सके। उनके साथ ऐसा भी व्यवहार किया गया था जो अनेक अर्थों में मानवोचित नहीं कहा जा सकता। पर वे अपने रास्ते पर अडिग अटूट निष्ठा के साथ साधना संपन्न वातावरण की सृष्टि आत्म और जग कल्याण के निमित्त करते रहे। निराला का जीवन भी कम विपन्न नहीं रहा है। जितना प्रवल प्रहार निराला के जीवन पर, कृतित्व पर तथा पौरुष पर हुआ और जो कुछ भी उनके ऊपर वीता अपने गुणों के कारण वह छिपी बात नहीं है। निरंतर पौरुष की आभा से उन्होंने उन परिस्थितियों का सामना भी किया और जिस ध्येय को लेकर वे चले उसके लिये आज तक सतत तपस्या कर रहे हैं। यद्यपि इन चोटों ने उनकी भौतिक शक्ति को निर्वल बना दिया तो भी अभी अभी उन्होंने १४ नववंर को हिंदी दिवस पर जो घोषणा की, वह अत्यंत प्राणावान आत्मा की वाणी ही हो सकती है। जिन आदर्शों की स्थापना के लिए उनका जीवन हैं उन आदर्शों की दीपशिखा प्रज्ज्वलित करने में आज का भी उनका जीवन व्यतीत हो रहा है। आज भी उन्हें जिस बात से सुख शांति और संतोष मिलता है, वह उनके शब्दों में इस प्रकार है....

'मैं अव वृद्ध तथा कमजोर हो गया हूँ। सभी प्रकार की मानव व्याधियों ने मुझे घेर लिया है। किंतु आप लोगों को मेरे स्वास्थ्य की चिंता न करनी चाहिए। यदि आप लोगों को मेरी सेवाओं के प्रति कुछ भी प्रेम और सम्मान हो, तो मेरी प्रार्थना है कि राष्ट्रभापा की पताका को ऊँची करें। हिंदी की सेवा का व्रत लीजिये और स्वयं साहित्योत्पादन में सहायता दीजिये। संस्कृत तथा अन्य राज्य भाषाओं का अध्ययन करिये और उनका सम्मान करिये। इससे मुझे शांति और सुख मिलेगा।'

यह ऐसे व्यक्ति की वाणी है, जो सुख के ढूँढ़ने की कभी परवाह नहीं करता, आज की भी परिस्थिति में भी, जब कि वह ऐसी स्थिति में है। उनका उन्नत माथ विनत उसी के सम्मुख हो सकता है जो शरण दोषरण है। यह बात उस साधना परंपरा की आख्यायिका है जो भारत की सांस्कृतिक उत्सर्ग की दीप्ति है। मैं पूर्व ही निवेदन कर चुका हूँ कि निराला जी जिस सांस्कृतिक भाव चेतना के अग्रदूत हैं, जिस काव्य की मूल वृत्ति के वे अभिसिंचक हैं उसी रचना प्रणाली के अंतर्गत 'गीत गुंज' भी रखा जा सकता है-

भग्न तन, रुग्ण मन, जीवन विषण्ण बन।
क्षीण क्षण क्षण देह, जीर्ण सज्जित गेह।
घिर गये हैं मेह, प्रलय के प्रवर्षण।
चलता नहीं हाथ, कोई नहीं साथ।
उन्नत, विनत माथ, दो शरण, दोपरण।

आज निराला जी के संवंध में अनेक ऐसी बातें उड़ाई जा रही हैं, जो मूलतः राग विराग से भरी हुई लोगों के पड़यंत्र की खोज का आणविक शस्त्र हैं, पर निराला जीवन से भगने वाले नहीं, उसके बीच रहकर जीवन का दर्शन करने वाले सदैव रहे हैं और इस रचना में भी उसी रूप में वे सर्वथा वर्तमान हैं। आज के मानव की क्या स्थिति है, वह किस रूप में है, उसकी क्या दशा है, यह जिन्होंने देखा है वह निश्चय ही निराला जी के इन विचारों से अपने को सर्वथा सहमत पायेंगे कि मानव आज पशु समझा जा रहा है। पशु के समान उसका तन और मन समझा जा रहा है। वह वैल और घोड़ा हो गया है। उनकी यह रचना इसका साक्षी है-

मानव जहाँ बैल घोड़ा है।
....
वन्य भाव का यह कोड़ा है।

इस पर से विश्वास उठ गया,
विद्या से जब मैल छट गया,
पक पक कर ऐसा फूटा है,
जैसा सावन का फोड़ा है।

ऐसी जीवन की जागरूक भावनाओं से आप्लावित रचनाएं वैसे ही कर सकते हैं, जो हृदय के छंदों में ही बंधकर गीत गाते हैं। कहना न होगा कि निराला जी ऐसे व्यक्ति हैं कि यदि उनके हृदय से छंद न फूटें तो वे एक गीत भी गाने वाले नहीं। काव्य साधना की उस मान्यता पर अवस्थित होकर अनुभूति स्वयं वाणी बन मुखर हो उठती है। यह मुखर वाणी सदैव से निराला जी के अंतस्तल से स्रोतवती होकर फूटी है। निराला के इस काव्य में भी उनकी यह साधना आस्थापूर्वक अभिव्यक्त हुई है, यह हिंदी काव्य के लिये गौरव की बात है। आज क्या छायावाद और कहना न होगा कि द्विवेदी जी के युग में भी अनेक पिटे-पिटाये लोगों ने बुद्धि और विवेक द्वारा यंत्रवत् कविताओं का उत्पादन किया, हृदय के उमंग से निकाली काव्य की वास्तविक धारा से सिक्तभूमि को पुष्पों के सौरभ से सुरभित करने वाले कुछ एक लोगों में निराला जी भी आगे आये। उनके हृदय की वह साधना आज भी जाग्रत और जीवित है जब कि उनके समय के अनेक महाकवि आज छंदों में तुक गढ़ने में ही अपने विकास की चरम परिणति पा, खो गये हैं। उनकी कवि काया स्वर्गीय हो उठी है। ऐसी स्थिति में भी हृदय की वाणी को सब कुछ मानना उस व्यक्ति का ही कार्य हो सकता है जो जीवन की स्वर लहरियों में हृदय की अनूभुतियों का द्रष्टा रहा हो। आज भी निराला जी वैसे ही हैं यह अनायास ही इन गीतों के गुंजार से जाना जा सकता है।

कहते कहते जग हार जाय,
रहते रहते मन मार जाय,
जो उड़े न अम्बर हरे बास
तो अपने भाव न लाना तुम।
कलियों के हारों बहु प्रकार,
उस लहरे गन्ध बहे बयार,
यदि मिला न तुमसे हृदय छंद,
तो एक गीत मत गाना तुम।

ऐसा लिखने का अर्थ यह न लगाया जाय कि निराला जी के पास केवल हृदय ही है, बुद्धि और विवेक भी है। किंतु हृदय से तो वह वाणी निकलती है जो विवेक के फिल्टर पेपर से छनकर हृदय में पहुँच स्थाई रूप में प्रवाहित हो उठती है। यह प्रवुद्धता विवेकजन्य स्थायी ज्ञान की अनुभवशीलता में है। विवेक द्वारा प्राप्त प्रभाव हृदय के अंतस्तल में जब स्थान पा लेता है और उसकी सत्यता हृदय सम्मत हो जाती है, अनुभव के बल पर, तव कहीं जाकर वह हृदय की वाणी के रूप में फूटता है। हृदय की वाणी विवेक की वह सीमा है जिसके आगे विवेक नहीं पहुँचता। यदि हृदय की वाणी हृदय से ही निकली हो, हृदय के बहाने कहीं अन्यत्र से नहीं। इस अर्थ में निराला की समस्त वाणी जो इन गीतों में संरक्षित है वह उनके हृदय भोजन चीखने वाले व्यक्ति हैं। केवल गुण गाने वाले नहीं, अनुभव करने वाले भी। वे उसे बल से प्राप्त नहीं करना चाहते अपितु स्नेह से देखना चाहते हैं। स्नेह की विजय, शक्ति की विजय से कहीं महान हुआ करती है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण तुलसीदास और अकवर हैं। तुलसीदास ने स्नेह के बल पर लोगों का मन जीता था और अकवर ने शक्ति के बल पर अपने प्रतिष्ठा की धाक जमायी थी। तुलसी आज कंठ कंठ पर प्रतिष्ठित हैं और अकबर केवल पोथियों में। जहां उत्सर्ग नहीं होता, वहाँ स्नेह नहीं हो सकता। निश्चय ही उत्सर्ग के पीछे जो प्रेरणा होती है वही संकल्पात्मक जिज्ञासावृत्तियों का उन्नयन, प्रवर्द्धन और विकास करती है। यह जिज्ञासा पूर्ण संकल्पात्मक स्नेह के इन गीतों में व्यक्त है।

पार, पारावार जो है,
स्नेह से मुझको दिखा दो।
रीति क्या, कैसे नियम,
निर्देश कर कर के सिखा दो।
कौन से जन, कौन जीवन,
कौन से गृह, कौन आँगन,
किन तनों की छाँह के तन,
मान मानस में लिखा दो।
पठित या निष्पठित वे नर,
देव या गन्धर्व, किन्नर,
लाल, पीले, कृष्ण, धूसर,
भजन क्या भोजन चिखा दो।

ऐसी सहज संकल्पात्मक स्नेहजन्य अनुभूतियों की अभिव्यक्ति वही कर सकते हैं, जो सीधी राह चलने वाले होते हैं। टालमटोल और घुमाव-फिराव से साधना को चिढ़ है, वह तो वुद्धि का धर्म है। मन का प्रदेश है। सच्चे साधक बिना किसी की परवाह किये उन रास्तों पर चलते हैं जो सहज होते हैं। जिनके जीवन के रास्ते सहज नहीं होते, वे हृदय के तत्वों का

साक्षात्कार ही नहीं कर सकते।

यद्यपि बराबर ऐसा ही कहा जाता रहा है कि निराला जी का काव्य पथ सहज नहीं है। उनके भाव के मूल तक पहुँचने में लोगों को कठिनाई भी होती है। किंतु आज की ये रचनाएं उनके लिये भी एक उत्तर हैं। किंतु जहाँ दुराग्रह विवेक के आसन पर शासन करने लगता है, वहाँ से जो स्वर निकलता है या जो मान्यताएं स्थापित की जाती हैं, वे सीधे देखने की आदी ही नहीं होतीं। उनकी स्थिति पाईप में बंधे जल प्रवाह की है नदी की नैसर्गिक धारा की भाँति उनमें मौलिक प्रवाह नहीं। धारा का यह प्रवाह नित-नूतन होता है। नये छवि का उन्मेष कर्ता होता है।

हो सकता है कि लोगों की धारा की लहरें वक्र लगें। उनमें उन्हें सीधा सौंदर्य न दिखाई पड़े किंतु यह भी निश्चय है कि ऐसी आँखें उन्हीं की हो सकती हैं, जिन्हें यंत्र की आँख मिली हो। प्रवाह में भी एक सहज, सरल और स्पष्ट सीधापन है। ऐसा ही रास्ता निराला जी का है, जिस पर उनका जीवन फला और फूला है। इस सीधी राह पर चलने से उत्पात और घात के फफोले बुलबुले के समान स्वयं गल जाते हैं। निराला जी इसी सीधी राह पर अब भी हैं।

सीधी राह मुझे चलने दो।
अपने ही जीवन फलने दो।
जो उत्पात, घात आये हैं,
और निम्न मुझको लाये हैं,
अपने ही उत्ताप बुरे फल,
उठे फफोलों सा गलने दो।
जहाँ चिन्त्य है जीवन के क्षण,
कहाँ निराभयता, संचेतन,
अपने रोग भोग से रहकर,
निर्यातन के कर मलने दो।

ऐसी सीधी राह चलने वाले राह में ही विलीन नहीं हो जाते हैं अपितु उनकी गति से राह गुंजरित हो उनके लय में लीन हो जाता है। उनका उद्देश्य तो और ही है।

पर इस सीधी राह पर वे आँख मूँद कर भी नहीं चलते। वह देखकर चलते रहते हैं। रास्ते के दृश्यों में वे अपनी साधना को संवलित बनाते हैं और उसके सहज प्रभावों को लय में मूर्त्त करते रहते हैं। निराला जी को इस अर्थ में जितनी व्यापक दृष्टि मिली उतनी शायद ही किसी आधुनिक कवि को मिली हो। उन्होंने केवल नये नये प्रयोग ही नहीं किये केवल जनता में प्रचलित छंदों का ही साहित्य में स्फुरण नहीं किया, केवल साहित्य की लहरी में व्यंग्य द्वारा युग की पीड़ा ही अभिव्यक्त नहीं की अपितु प्रकृति के चित्रों को वाणी भी दी। उन्हें राग-रागिनियों में बाँध कर इस प्रकार सजीव कर दिया कि वे युग-युग के लिए अमर हो उठें। ऐसे चित्रों के लिए हृदय जितना ही संवेदनशील होता है व्यक्ति उन चित्रों को अंतस्तल की उतनी ही सजीवतापूर्वक अभिव्यक्त कर पाता है। 'जूही की कली' जिसे देखकर कवि की वाणी स्पंदित हुई वह हिंदी का चिरंतन सत्य बन गई। किंतु उस सत्य के पीछे जो साधनामयी दृष्टि थी, वह निराला जी की थी और वहीं गीतगुंज में गीतों की लहरों पर अब भी थिरक रही है। कहीं कहीं तो रहस्यात्मक सत्यों का उद्घाटन विराट् सत्य की वाणी में अभिव्यक्ति के रूप में साकार हो प्राणवान हो उठा है या उसी विराट शिल्पी के मोहक सौंदर्य का रंग अभिव्यक्ति के रूप में महकती गलियों में सर्वत्र प्रस्फुटित हो उठा है।

सत्य पाया जहाँ जग ने, दान तेरा ही वहाँ है
जहाँ भी पूजा चढ़ी है, मान तेरा ही वहाँ है।

● ● ● ●

कूँची तुम्हारी फिरी कानन, आनन में,
फूलों के आनन, कानन में।
फूटे रंग बसन्ती, गुलाबी,
लाल, फलास, लिये सुख, स्वाबी,
नील, श्वेत शतदल सर के जन
चमके हैं केशर पंचानन में।

ऐसे अनेक गीतों में विराट सत्य का दर्शन भी कवि ने कराया है, जो लोक जीवन में उन चित्रों का जहाँ केवल सावन का पावन गीत ही प्राण नहीं है अपितु हरी ज्वार की परियाँ 'अरहर' फैली उड़द मूँग के पात का भी रूप खड़ी करने में सफल हैं। यह दृष्टि अनेक पदों में दिखाई पड़ती है। कवि इन विराट सत्यों में जग के मनोहर चित्रों को भूला नहीं है। उसकी आराधना के गीतों की गुंजार जग के बीच हुई है, जहाँ पर हरियाली है। ग्राम वधू के सुख हैं और जहाँ वारिधि वंदन की परंपरा सनातन है। बादल को आमंत्रित करना भी कभी वह भूला नहीं है। वह उसे सहज ही आमंत्रण देता है, पूर्ववत्-

आओ, आओ वारिद वन्दन,
बरसो सुख, बरसो आनन्दन।
आशिष वायु गुल्म तृण परसो,
जन जन के प्राणों में तरसो,

दृग अंचल बरसो हे सरसो,
स्नेह स्नेह के आंगन स्पन्दन।
हरियाली के झूले-झूले,
ग्राम बधू सुख से दुख भूले,
गहरे गड़े मधुर जो मूलें,
करषो हे समीर के स्पन्दन।

यद्यपि वारिधि के आने पर पहिले जैसा आह्लाद कवि को नहीं होता, जैसी सरसता हरियाली से उसे पहले मिलती थी वैसा प्रभाव नहीं पड़ता। उसका भी हृदय तड़प उठता है क्योंकि अब बूँदों की छन-छन भी उसे लगती है।

बादल रे, जी तड़पे।
किये उपाय सैकड़ों तन के,
मन के चरण, चरण मिले, सज्जन के,
व्यर्थ प्रार्थना जैसे अब है,
पंजर पिंजर करके।
अब अँधियारे ही बढ़ती है।
छाया छाया पर चढ़ती है,
प्राणों के घनश्याम गगन से
बूँदें कभी न बरसे।
छिप जाती है छवि बिजली में,
सरसर में दबती है हिय में,
बूँदों की छन छन से उन्मन
प्राण न मेरे हरसे।

ये बूँदें छन छन सी हैं इसलिए मदन का हिलोर अब कवि की सहन सीमा के परे हो उठा है। वह स्वयं उससे आग्रह करता है-

पावन, मदन हिलोर न दे तन
बरसे झूम झूम कर सावन
बन द्रुमराजि साज सब साजे,
बसन हरे, उर उड़े, विराजे,
अलियों, जूही की कलियों की
मधु की गलियों नूपुर बाजे,
घर बिछड़े आये मन भावन।

जीवन की साधना के विविध चित्रों का यह अलबम निराला के स्वर की गंभीर वाणी है। इस वाणी में दुरूहता नहीं सहजता है। निराला जी के पहले के गीतों से इधर के गीत इस अर्थ में भिन्न हैं कि भावों के पीछे, अपने पौरुष के कारण कल्पना की तितलियों को खुलकर खेलने का अवसर नहीं दिया गया है। ये तो सीधे-सीधे सरल उद्‌गार हैं और कवि के उन गीतों की चैतन्य वाणी हैं जो नवगति, नवलय, ताल-छंद नव, नवल कंठ, जलध मंद्र रव, नव नभ के नवविहग वृन्द के स्वर से साकार कभी फूटे थे। यद्यपि भाव अनेक स्थलों पर गंभीर हो गये हैं जिससे अनेक लोगों को ये गीत भी ठूठे लगेंगे। किंतु सत्य यह है कि ठूठे कहने वाले ऐसे अनेक लोगों ने गीतिका, अर्चना और आराधना के दर्शन भी संभवतः नहीं किए। किसी की बात पढ़कर अपने शब्दों में उसे रख दिया है, यह तो आज के बड़े लोगों का काम है। किंतु जो लोग पढ़कर निराला के गीतों को ठूठ समझते हैं, उन्हें मैं इन गीतों की गूंज में रसगुंजित होने के लिए सादर आमंत्रित करता हूँ क्योंकि लिखी बात का वजन मैं जानता हूँ। हाँ, उन लोगों से भी यह कह देना चाहता हूँ जो भारतीय संस्कृति और साधना के पुजारी, बँगला के कुछ आधुनिक कवियों की एवं अंग्रेजी के कुछ कवियों की रचनाएं पढ़ या देख कर हो गये हैं उनसे भी मैं सादर निवेदन करूँगा कि निराला को समझने के लिए भारतीय साहित्य परंपरा का वे कृपा कर अनुशीलन करें। यद्यपि कभी भी मेरा यह दावा नहीं रहा कि मैं पंडित हूँ, साहित्य का मर्मज्ञ हूँ, किंतु जो कुछ भी मेरा ज्ञान है, उसके बल पर निश्चय ही यह कह सकता हूँ कि निराला के ये गीत भारत के साधकों की परंपरा की विकास की वह शक्ति हैं जहाँ पर प्रकाश अपने को आहुत कर औरों को ज्योति दान करता है। आत्म-साधना की विशाल भारतीय भाव भित्ति नये रूप में युग के अनुरूप इन गीतों में मूर्त है। इनकी साधना की गूँज काल और सीमा को पीछे छोड़ देगी, इसमें भी मुझे संदेह नहीं। इन गीतों के संबंध में परिचयात्मक निबंध लिखना बहुत बड़े साहस का काम कहा जा सकता है और संभवतः मैंने साहस अनजाने नहीं, जान कर किया है और इसलिए नहीं किया है कि मैं उन लोगों में हूँ जो वर्तमान कवियों में केवल निराला जी के ही काव्य के भक्त हैं अपितु इसलिए किया है कि यह कर्तव्य था। शक्ति की सीमा होती है, वह सीमा मेरे साथ भी है। लेकिन इसका अर्थ यह मैंने कभी नहीं समझा कि रस जिससे लिया है उसका बखान न करूँ। इसलिए अधिक कि समवेत रूप में पुस्तकाकार छपने के पूर्व उस रस का पान कर सका जो अमृत है और स्वराष्ट्र में रमने वाले की देन है। ●

(यह प्रस्तावना निराला जी के जीवनकाल में प्रकाशित उनकी रचना 'गीत गुंज' की भूमिका के रूप में प्रकाशित हुई थी।)

हरिद्वार

कविवचन सुधा खंड ३ अंक १, ३० अप्रैल सन् १८७१ के अंक में छपा, संपादक के नाम पत्र।

श्रीमान् कवि वचन सुधा संपादक महोदय,

श्री हरिद्वार को रुड़की के मार्ग से जाना होता है। रुड़की शहर अंग्रेजों का बसाया हुआ हैं। इसमें दो-तीन वस्तु देखने योग्य हैं एक तो (कारीगरी) शिल्प विद्या का बड़ा कारखाना है जिसमें जल चक्की, पवन चक्की और भी कई बड़े बड़े चक्र अनवर्त खचक्र में सूर्य, चंद्र, पृथ्वी, मंगल आदि ग्रहों की भांति फिरा करते हैं और बड़ी बड़ी धरन ऐसी सहज में चिर जाती है कि देखकर आश्चर्य होता है। बड़े बड़े लोहे के खम्भे एक क्षण में ढल जाते हैं और सैकड़ों मन आटा घड़ी भर में पिस जाता है। जो बात है आश्चर्य की है। इस कारखाने के सिवा यहाँ सबसे आश्चर्य श्री गंगा जी की नहर है, पुल के ऊपर से तो नहर बहती है और नीचे से नदी बहती है। यह एक बड़े आश्चर्य का स्थान है। इसके देखने से शिल्प विद्या का बल और अंगरेजों का चातुर्य और द्रव्य का व्यय प्रगट होता है। न जाने वह पुल कितना दृढ़ बना है कि उस पर से अनवर्त कई लाख मन बरन करोड़ मन जल बहा करता है और वह तनिक नहीं हिलता। स्थल में जल कर रखा है। और स्थानों में पुल के नीचे से नाव चलती है यहाँ पुल के ऊपर नाव चलती है और उसके दोनों ओर गाड़ी जाने का मार्ग है और उसके परले सिरे पर चूने के सिंह बहुत ही बड़े बड़े बने हैं। हरिद्वार का एक मार्ग इसी नहर की पटरी पर से है और मैं इसी मार्ग से गया था।

विदित हो कि यह श्री गंगाजी की नहर हरिद्वार से आई है और इसके लाने में यह चातुर्य किया है कि इसके जल का वेग रोकने हेतु इसको सीढ़ी की भांति लाये हैं। कोस-कोस, डेढ़-डेढ़ कोस पर बड़े-बड़े पुल बनाये हैं वही मानो सीढ़ियाँ हैं और प्रत्येक पुल के ताखों से जल को नीचे उतारा है। जहां जहां जल को नीचे उतारा है वहां बड़े-बड़े सीकड़ों में कसे हुए दृढ़ तख्ते पुल के ताखों के मुंह पर लगा दिये हैं और उनको खींचने के हेतु ऊपर चक्कर रखे हैं। उन तख्तों से ठोकर खाकर पानी नीचे गिरता है वह शोभा देखने योग्य है। एक तो उसका महान शब्द दूसरे उसमें से फुहारे की भांति जल का उबलना और छीटों का उड़ना मन को बहुत लुभाता है और जब कभी जल विशेष लेना होता है तो तख्तों को उठा लेते हैं फिर तो इस वेग से जल गिरता है जिसका वर्णन नहीं हो सकता और ये मल्लाह दुष्ट वहाँ भी आश्चर्य करते हैं कि उस जल पर से नाव को उतारते हैं या चढ़ाते हैं। जो नाव उतरती है तो यह ज्ञात होता है कि नाव पाताल को गई पर वे बड़ी सावधानी से उसे बचा लेते हैं और क्षणमात्र में बहुत दूर निकल जाती है पर चढ़ने में बड़ा परिश्रम होता है। यह नाव का उतरना चढ़ना भी एक कौतुक ही समझना चाहिए।

इसके आगे और भी आश्चर्य है कि दो स्थान नीचे तो नहर है और ऊपर से नदी बहती है। वर्षा के कारण वे नदिया क्षण में तो बड़े वेग से बढ़ती थीं और क्षणभर में सूख जाती हैं। और भी मार्ग में जो नदी मिली उनकी यही दशा थी। उनके करारे गिरते थे तो बड़ा भयंकर शब्द होता था और वृक्षों को जड़ समेत उखाड़ उखाड़ के बहाये लाती थी। वेग ऐसा कि हाथी न सम्हल सके पर आश्चर्य यह कि जहां अभी डुबाव था वहां थोड़ी देर पीछे सूखी रेत पड़ी है और आगे एक स्थान पर नदी और नहर को एक में मिला के निकाला है। यह भी देखने योग्य है। सीधी रेखा की चाल से नहर आई है और बड़ी रेखा की चाल से नदी गई है। जिस स्थान पर दोनों का संगम है वहाँ नगर के दोनों ओर पुल बने हैं और नदी जिधर गिरती है उधर कई द्वार बनाकर उसमें काठ के तख्ते लगाये हैं जिससे जितना पानी नदी में जाने देना चाहे उतना नदी में और जितना नहर में छोड़ना चाहे उतना नहर में छोड़े।

जहाँ से नहर श्री गंगाजी में से निकला है वहां भी ऐसा ही प्रबंध है और गंगा जी नहर में पानी निकल जाने से दुबली और छिछली हो गई हैं परंतु जहां नील धारा आ मिली है वहाँ फिर ज्यों की त्यों हो गई हैं।

हरिद्वार के मार्ग में अनेक प्रकार के वृक्ष और पक्षी देखने में आये। एक पीले रंग का पक्षी छोटा बहुत मनोहर देखा गया। बया एक छोटी चिड़िया है उसके घोसले बहुत मिले। ये घोसले सूखे बबूल काँटे के वृक्ष में हैं और एक एक डाल में लड़ी की भांति बीस-बीस, तीस-तीस लटकते हैं। इस पक्षियों की शिल्प विद्या तो प्रसिद्ध ही है लिखने का कुछ काम नहीं है इसी से इनका सब चातुर्य प्रगट है कि सब वृक्ष छोड़ के कांटे के वृक्ष में घर बनाया है। इसके आगे ज्वालापुर और कनखल और हरिद्वार है जिसका वृतांत अगले नंबरों में लिखूंगा।

हरिश्चंद्र की जागरूकता का प्रमाण यह भी है कि वह विज्ञान की उन्नति चाहते थे। 'कविवचनसुधा' में इस विषय पर लेख भी निकले। ६ मार्च १८७४ के अंक में लिखा-

'(विलायत में) एक लक्ष बइलर है, भाप के यंत्र हैं और एक एक की शक्ति ४० घोड़ों की है। एक घोड़े की शक्ति आठ मनुष्यों के बराबर है तो इस हिसाब से चालीस लाख घोड़े अर्थात् तीन करोड़ बीस लाख मनुष्यों का काम इन यंत्रों के द्वारा होता है। ५ मनुष्य तो काम करते करते थक जाते हैं पर ये यंत्र कभी नहीं थकते और मनुष्य के समान चार आना आठ आना रोज नहीं देना पड़ता केवल इनमें अग्नि प्रदीप करने से चलने लगते हैं..... परदेश के कला कौशल ने इस देश पर चढ़ाई किया ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था।' ●

(यह पत्रालेख डॉ. गिरीशचंद्र चौधरी, भारतेंदु भवन के सौजन्य से प्राप्त हुआ है।)

कितनी खूबसूरत? कितनी सुन्दर?
कैसी थी 'आँसू' के कवि की प्रेमिका/नायिका

- प्रो. डॉ. दीनानाथ 'शरण'

यह जानने की उत्सुकता स्वाभाविक है कि 'आँसू' के कवि 'प्रसाद' की प्रेमिका कैसी थी, जिसकी प्रेम पीड़ा में कवि ने इतने आँसू बहाये! कैसी थी 'आँसू' के कवि की प्रेमिका? - पत्नी या नायिका? कितनी खूबसूरत? कितनी सुन्दर?

'जनम अवधि हम रूप निहारलू, नैन न तिरपति भेल'

यह है महाकवि विद्यापति की नायिका! सुन्दरता को भी सुन्दर करने वाली है- रामायण की नायिका सीता-

'सुन्दरता कहँ सुन्दर करई- छवि-गृह दीपशिखा जनु बरई!'

और महाकवि विहारीलाल की नायिका का तो कहना ही क्या! -

'अंग अंग नग जगमगत, दीपशिखा सी देह!'

अतः ऐसे में यह जानना बड़ा ही दिलचस्प है कि कैसी थी 'आँसू' के कवि की नायिका-वह प्रेमिका या पत्नी? जिसकी 'घनीभूत पीड़ा' कवि की स्मृतियों में आँसुओं के रूप में वरस पड़ी-

जो घनीभूत पीड़ा थी, मस्तक में स्मृति-सी छायी
दुर्दिन में आँसू बनकर, वह आज बरसने आयी!

और तो और, उस समय का सारा जमाना ही उन 'आँसुओं' के समुंदर में डूब गया था। कैसी थी कवि की वह प्रेमिका? केवल तन की सुन्दर थी वह? या मन की भी सुन्दर? आइये 'आँसू' की पंक्तियों के पर्दे से हम झाँकें-

वह गोरी थी- 'शशि मुख पर घूंघट डाले' - चाँद सा मुखड़ा अर्थात् देखने में गोरी थी वह। उसका रंग वहुत साफ था- तभी तो कवि ने लिखा है कि 'घन में सुन्दर बिजली-सी' बिजली में चपल चमक-सी।' वह देखने में निश्चय ही गोरी थी- अतः कवि ने उसके संवंध में स्पष्ट लिखा है कि उसकी शारीरिक गोराई ऐसी थी मानों विजली पूनम की रात में चंद्रमा के सरोवर में नहा आयी हो!-

चंचला स्नान कर आवे, चंद्रिका-पर्व में जैसी
उस पावन तन की शोभा, आलोक मधुर थी ऐसी!

उसका मुख कैसा था? गोलाकार था- चाँद की तरह - 'शशि मुख पर घूंघट डाले', अन्यत्र भी कवि ने उसके मुख को चंद्रमा कहा है- 'बांधा था विधु को किसने...'

और उसके सिर के केश (वाल) भूरे या सफेद नहीं थे, काले थे। इसलिये उसके केश के लिए कवि ने 'काली जंजीरें' कहा है- 'बांधा था विधु को किसने, इन काली जंजीरों से?' और उसके बाल (केश) थे बड़े ही घुंघराले- 'विखरी थीं उनकी अलकें....।'

उस नायिका की आंखें कैसी थीं? उसकी आंखें नीली या भूरी नहीं थीं, उसकी आँखें काली थीं और उन आंखों में यौवन मद की लाली थी-वे आंखें लगती थीं मानों नीलम की प्याली में मानिक मदिरा भर दी गयी हो-

काली आँखों में कितनी यौवन के मद की लाली
मानिक-मदिरा से भर दी, किसने नीलम की प्याली।

वे आँखें किसी अतृप्ति में खोयी खोयी सी लगती थीं- 'तिर रही अतृप्ति जलधि में नीलम की नाव निराली।' वह सुन्दरी अपनी आंखों में अंजन लगाया करती थी- 'काला पानी वेला-सी है अंजन-रेखा काली।'

उसकी बरौनी तो इतनी खूबसूरत थी कि कितनों के दिल घायल कर देती थी-

'अंकित कर क्षितिज पटी को तूलिका- बरौनी तेरी!
कितने घायल हृदयों की, बन जाती चतुर चितेरी!'

जब वह मुस्काती थी, तब उसके गालों में गड्ढे पड़ते थे- आज की भाषा में डिम्पल (Dimple) और भौंहें बंकिम थीं उसकी-

कोमल कपोल पाली में, सीधी-सादी स्मित रेखा
जानेगा वही कुटिलता, जिसने भौंह में बल देखा!

उसके दाँत विद्रुम (अधर) और सीपी (नाक) के सम्पुट (डिबिया) में मानों मोती के दाने थे-

विद्रुम -सीपी सम्पुट में मोती के दाने कैसे?
है हंस न, शुक यह, फिर क्यों चुगने को मुक्ता ऐसे?

उनकी हँसी के आगे उष काल में खिले हुए कमलों का सारा वैभव (सारा सौंदर्य) फीका पड़ जाता था-

विकसित सरसिज-वन-वैभव, मधु उषा के अंचल में
उपहास करावे अपना, जो हँसी देख ले पल में।

अपनी प्रेमिका के कानों के बारे में कवि की उक्ति है-

'मुख कमल समीप सजे थे, दो किसलय-से पुरइन के'

अर्थात् मुख रूपी कमल के समीप दो नये कोमल पत्तों के समान सुंदर थे उसके दोनों कान।

'आँसू' के कवि ने अपनी प्रेमिका के कोमल चरणों (पैरों) का भी यों बयान किया है-

'छिल-छिल कर छाले फोड़े, मल-मल कर मृदुल चरण से!'

यह सब तो उस प्रेमिका के अंग प्रत्यंग की शारीरिक सुंदरता की बात। उसके तन की सुन्दरतर के अलावा कवि ने उसके मन की सुन्दरता का भी उल्लेख किया है। वह मिथ्या आश्वासन देने में- उम्मीद से ज्यादा तसल्ली देने में बहुत ही प्रवीण थी-

इतना सुख जो न समाता, अंतरिक्ष में, जल-थल में,
उनकी मुट्ठी में बंदी था आश्वासन के छल में।

चूँकि वह प्रेमिका कवि को छोड़ गयी थी, अतः कवि की नजर में 'छलना थी-फिर भी मेरा उसमें विश्वास घना था।' या वह 'निष्ठुरहृदया' थी- तभी तो 'हीरे सा हृदय हमारा, कुचला शिरीष कोमल ने।' वह इतनी स्वार्थी (मतलबी) थी कि-

'मानस का सब रस पीकर लुढ़का दी तुमने प्याली।'

कवि के जीवन का सारा सुख-हँसी-खुशी-लेकर वह चुपके से चल दी-

इतना सुख ले पल-भर में, जीवन के अंतस्तल से
तुम खिसक गये धीरे-से, रोते अब प्राण विकल से।

कवि की वह प्रेमिका उसकी 'जीवन संगिनी' नहीं बनी, लेकिन जीवनभर 'सखा' तो रही ही, इसलिए कवि की दृष्टि में वह कठोर है, कोमल भी है-

मेरी अनामिका संगिनी! सुन्दर, कठोर, कोमलते!
हम दोनों रहे सखा ही, जीवन-पथ चलते-चलते।

कवि की उस प्रेमिका के स्वभाव में बच्चों जैसा भोलापन था-

'छलकी पड़ती हो जिसमें शिशु की उर्मिल निर्मलता।'

वह 'मादक थी, मोहमयी थी, मन बहलाने की क्रीड़ा' थी। कवि के जीवन में वह मादकता सी आयी थी और जब चली गयी तब, सिवाय रोने के अब रहा ही क्या! -

मादकता-से आये तुम, संज्ञा से चले गये थे
हम व्याकुल पड़े बिलखते थे उतरे हुए नशे से।

जो हो, वह प्रेमिका कवि के जीवन में इंद्रधनुषी आभा तो छोड़ ही गयी है- 'अब इंद्रधनुष सी आभा तुम छोड़ गये हो जाकर',

और वह प्रेमिका कवि के जीवन में अब एक यादगार तो बनकर रह ही गयी है अवश्य-

प्रतिमा में सजीवता-सी, बस गयी सु-छवि आँखों में
थी एक लकीर हृदय मे, जो अलग रही लाखों में।

उस प्रेमिका के प्रति कवि को अपने प्रेम का रंग छुड़ा पाना असंभव है-

अब छुटता नहीं छुड़ाये, रंग गया हृदय है ऐसा!
आँसू से धुला निखरता, यह रंग अनोखा कैसा!

ऐसी थी 'प्रसाद' जी की वह प्रेमिका- 'आँसू' की नायिका- जिसके संबंध में अंग्रेजी के प्रख्यात रोमांटिक कवि जॉन कीट्स के शब्दों में हम तो यही कहेंगे कि- "To see her is to love her, And love her but for ever. ●

गीतिकाएँ

पायलों के नूपुरों को थाम
आज सुन सरगम किसी के चाप की
आ गया कुछ स्नेह सा चुपचाप ही
क्षितिज पर नभ ने धरा से बात की
मिल गए दोनों वहाँ अनजान

सिंधु अंतर में लहर का साज सजता
चाँद को छूता हुआ सा राग बजता
देखकर नीले गगन को चाँद हँसता
आज लहरों को हुआ सरसाम

अतुल नूपुर के मधुर से राग चुप जा
ओ समुन्दर की लहर के नाद चुप जा
री मधुर सी मुस्कराहट चाँद बुझ जा
भागता हमसे हमारा प्राण
पायलों के नूपुरों को थाम

– डॉ. सुरेन्द्र वर्मा

पुष्प वाटिका रसामृत

- तुंगनाथ चतुर्वेदी

वैसे तो मानस के समस्त प्रसंग उत्कृष्ट हैं, परंतु पुष्पवाटिका प्रसंग प्राकृतिक सौंदर्य, ललित साहित्य, उज्ज्वल श्रृंगार का उपासनीयभाव सखी-सहचरी भाव, कुलीनशालीन मर्यादा का निर्वाह, सूक्ष्म एवं मृदुल मानवीय संवेदनाओं जैसी विशिष्टताओं का सौरभपूर्ण पुष्पगुच्छ है। जैसे तुलसी के व्यक्तित्व में महान कवि एवं परम संत का अद्‌भुत संयोग है, उसी प्रकार प्रस्तुत प्रसंग में कविराज जयदेव कृत नाटक प्रसन्न राघवम्‌ एवं अनन्य नृपति, रसिक शिरोमणि श्री हरिदास जू महाराज के उपासनीय निकुंज रस से महिमा मण्डित है।

महाराज जनक की पुष्पवाटिका में मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम एवं मिथिलेश किशोरी सीता के प्रथम मधुर मिलन की माधुर्यलीला का अलौकिक चित्रण है। यह प्रसंग वाल्मीकि सहित अन्य किसी रामायण में नहीं है। कथानक को माधुर्य रस से ओतप्रोत करने और मानस में अन्य समस्त उपासनीय भावों के साथ दिव्य प्रेमो-रसोपासना के प्रतीक सखी भाव को सम्मिलित करने के उद्‌देश्य से ही पुष्पवाटिका प्रसंग का चयन किया गया प्रतीत होता है।

मुनि विश्वामित्र के साथ श्रीराम-लक्ष्मण के मिथिला आगमन, पुष्पवाटिका निरीक्षण, धनुषयज्ञ प्रकरण में परशुराम लक्ष्मण संवाद, सीताराम विवाह एवं बारात का अयोध्या आगमन तक के इस प्रसंग को तुलसी ने बड़े उल्लास, विस्तार एवं रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। इस प्रसंग का महत्व इसी बात से जाना जा सकता है कि १५० दोहे एवं २६ छंदों के विस्तार से मानस के सातवें भाग के बराबर बैठता है।

विषय प्रवेश से पूर्व प्रसन्न राघव के रचयिता पीयूष वर्षी जयदेव का संक्षिप्त परिचय आवश्यक है। ये रामोपासक थे तथा गीतगोविंद के रचयिता जयदेव से भिन्न हैं। इनका जन्मस्थान विदर्भ प्रदेश के अंतर्गत कुण्डिनपुर स्थान है। इनके पिता का नाम महादेव और माता का नाम सुमित्रा था। जबकि जयदेव अनन्य कृष्णभक्त थे और गीत गोविंद के रचयिता के रूप में विश्व विश्रुत है। इनका जन्मस्थान बंगाल के वीरभूमि जनपद के बिल्व (केंदुली) ग्राम में हुआ था। ये भोजदेव तथा राधादेवी के पुत्र थे। इनकी पत्नी का नाम पद्‌मावती था जो अद्‌भुत सुंदरी थीं। लोगों की मान्यता है कि पत्नी की सुंदरता से ही जयदेव को गीतगोविंद जैसे सरस श्रृंगारिक काव्य की रचना की प्रेरणा मिली।

कोमलकांत पदावली के साथ माधुर्य एवं सुकुमारता आदि काव्य गुण प्रसन्नराघव में भरे पड़े हैं। इस कृति का परवर्ती साहित्य पर भी प्रचुर प्रभाव पड़ा। तुलसीदास ने भी पुष्पवाटिका में सीताराम मिलन, तथा धनुषयज्ञ प्रकरण में परशुराम लक्ष्मण संवाद प्रसंग इसी काव्य से लिए हैं। अशोकवाटिका में रावण द्वारा सताए जाने पर सीता के करुण क्रंदन का निम्न श्लोक तुलसी ने यथावत्‌ ग्रहण कर लिया है-

'चन्द्रहास हर मे परितापं रामचन्द्रविरहानलजातम्‌'

(प्र. रा. ६/३२)

चन्द्रहास हरु मम परितापं रघुपति विरह अनल संजातम्‌

(मानस)

पाठको के मन में यह जिज्ञासा उठना स्वाभाविक है कि तुलसी को सखी भाव की प्रेरणा कहां से किस प्रकार प्राप्त हुई? गोस्वामी जी की वृंदावन यात्रा, भक्तमाल के प्रणेता श्री नाभा जी से उनकी भेंट सर्वज्ञात तथ्य है। वृंदावन को श्रीराधा कृष्णमयी देखकर और भगवान श्रीराम का एक भी मंदिर न पाकर उनकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी कि-

आंक ढ़ाक सब कहत हैं आंब घास अरु कैर।
तुलसी वृज के लोक ते, कहा राम से बैर।।

जब आराध्य भगवान श्रीराम का दर्शन नहीं मिला तो भगवान श्रीकृष्ण के विग्रह के सम्मुख वे कहने लगे-

कहा कहौं छबि आपकी भले बने बृजनाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै, जब धनुष बाण लेउ हाथ।।

अपने भक्त की अनन्य निष्ठा का सम्मान करते हुए भगवान ने उन्हें राम रूप से दर्शन दिए और वृंदावन के संत समाज में तुलसीदास जी की भक्ति की प्रतिष्ठा में निम्न दोहा गाया गया-

कित मुरली कित चन्द्रिका, कित गुपियन को साथ।
अपने जन के कारनें, कृष्ण भए रघुनाथ।।

'श्रीकृष्ण गीतावली' ग्रंथ की रचना का समय संवत् १६२८ माना गया है। ऐसी मान्यता है कि वृंदावन प्रवास अथवा वहां से लौटकर इस ग्रंथ का सृजन हुआ। उस समय वृंदावन में अनेक सिद्ध संत विद्यमान थे। रसिक शिरोमणि अनन्य नृपति श्रीहरिदास जी महाराज की ख्याति भारत के कोने कोने में व्याप्त थीं, जिन्होंने अपनी भक्ति से ठाकुर श्री बाँके बिहारी जी का प्राकट्य किया। सम्राट अकबर उनके दर्शनार्थ सं. १५७३ में वृंदावन आए। प्रसिद्ध संगीतज्ञ तानसेन और बैजूबावरा भी स्वामी हरिदास जी के संगीत शिष्य थे। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी हरिदास जी के सखी सहचरी भाव से तुलसी भी प्रभावित हुए और इस दिव्य उपासना भाव को उन्होंने रामचरितमानस में भी अपनाने का मन बनाया होगा। स्वामी हरिदास जी का जन्मकाल संवत् १५३७ से १६३२ माना गया है और तुलसी का काल सं. १५५४ से १६८० माना गया है। इस प्रकार तुलसी का सखी भाव से प्रेरणा लेना संभावित है।

सखीभाव का संक्षिप्त परिचय लेने से पुष्पवाटिका प्रसंग का रसास्वादन सरल हो जायगा। सखी सहचरी भाव कोमलतम एवं उज्ज्वल श्रृंगार रस की रसोपासना है। इसमें स्व सुख का लेश भी नहीं है। सांसारिक सुखों के प्रति घोर वैराग्य और आराध्य प्रिया-प्रियतम के लाड़-चाव-श्रृंगार में निमग्न रहना ही निकुंज रस की उपासना के सखी सहचरी भाव की विचित्रता है। यह पूर्णरूपेण मानसी उपासना है। उपास्य श्यामा श्याम नित्य किशोर हैं, वृंदावन नित्य है और युगल केलि की भावना भी निरवधि नित्य विहार है। भक्त उपासक के हृदय में यह युगल विहार निरंतर चलता रहता है। इस नित्य विहार रहस्य को समझने पर ही तुलसी ने 'विहार' भाव को मानस में अपनाया है-

सीताराम गुणग्राम पुण्यारण्य विहारिणौ।।

- प्रथम मंगलाचरण

तुलसी सुभग सनेह बन, सिय रघुबीर बिहारु।।

- बाल-३१

पुलक वाटिका बाग बन सुख सुविहंग बिहारु।।

- बाल-३७

प्रसंग की पृष्ठभूमि को हृदयंगम करके, पुष्पवाटिका प्रकरण के आनंद सरोवर में प्रवेश किया जाय। प्रसंग का प्रारंभ निम्न अर्द्धाली से होता है-

भूप बागु बर देखेउ जाई। जहँ बसंत रितु रही लोभाई।

श्री सीता जी ही बसंत ऋतु हैं और 'परम रम्य आरामु यह जो रामहि सुख देत' ही किशोरी जी की स्वरूप महिमा है। प्रथमबार सखी शब्द प्रयोग सीता जी की सहेलियों के रूप में होता है-

संग सखी सब सुभग सयानी।

सखी कितनी सयानी हैं इसका संकेत 'प्रसन्न राघव' में इस प्रकार दिया गया है-

अत्र ते सखि शिखण्ड मण्डने पुण्डरीक रमणीय लोचने।
श्याम ताम रसदाम कोमले राम नामनि मनो मनोभवे।।

- (२/२३)

अर्थात् स्वामिपुत्रि, सखी के साथ भी हृदय (के भावों) को छिपाना व्यर्थ है। मैंने तो जान लिया है कि मोरपंख से विभूषित, कमल के समान मनोहर नेत्र वाले नीले कमलों की माला के सदृश कोमल इस राम नामक कामदेव में तुम्हारा मन लगा है।

'मज्जनु करि सर सखिन्ह समेता' एक ओर जहां गौरिपूजन से पूर्व, तन शुद्धि के लिए आवश्यक है, वहीं दूसरी ओर प्रेम मार्ग में प्रवेश से पूर्व यह प्रेम रस में पगने के लिए प्रेम सरोवर में डुबकी लगाना ध्वनित करता है। 'सर' शब्द का प्रयोग भी यहां साभिप्राय है। इसमें न केवल सकार रकार का संयोग है, वरन् उल्टे क्रम से यह रस लीला आरंभ होने की पूर्व भूमिका भी सूचित कर रहा है। 'सखिन्ह समेता' के प्रयोग से मानसकार का संकेत है जहां सीता जी मूल प्रकृति की प्रतीक हैं, वहीं सखियां अष्टधा प्रकृति की प्रतीक हैं। मानस पीयूष के अनुसार इन अष्ट सखियों में छः विवाहित हैं और दो अविवाहित हैं। विवाहितों के नाम है- लक्ष्मणा, वीरसेनकी, शुभ्रशीला, सुभद्रजी, शांताजी, वीरमणि जी।

प्रसंग में गौरिपूजा का विवरण 'पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा' केवल एक चौथाई चौपाई में देना अपर्याप्त अवश्य लगता है परंतु नित्य विहार की रसलीला में औपचारिक पूजा का महत्व नगण्य है।

सखी के साथ 'सयानी' विशेषण का प्रयोग भी मानसकार के काव्य कौशल ही नहीं अपितु रस प्रवणता को भी दर्शाता है। सखियाँ उनकी रक्षक और मार्ग दर्शक ही नहीं, प्रेम पंथ

की अनुभवी भी हैं। प्रसन्न राघव के अनुसार सीताजी द्वारा अम्बा गौरी को प्रणाम करने पर सखी व्यंगपूर्वक कहती है कि विवाह के लिए उत्सुक युवती के लिए इस प्रकार प्रणाम करना उचित ही है।

अगली चौपाई 'एक सखी सिय संग बिहाई' प्रसंग को अचानक मोड़ दे देती है। ऐसा प्रतीत होता है कि सखी निकुंज लीला में प्रवेश का सूत्रधार की भूमिका कर रही हो, 'पुलक गात जलु नैन' पर जहां सखीतन पर प्रेम के लक्षणों का संकेत कर रहा है, वहीं 'प्रेम बिबस सीता पहिं आई' पद उसकी भाव प्रवणता का परिचायक है। कहने का तात्पर्य यह है कि पुष्पवाटिका में प्रेम का साम्राज्य छाया हुआ है।

'तासु बचन अति सियहि सोहाने, दरस लागि लोचन ललचाने।'

अर्द्धाली सीता जी के पुरातन एवं पुनीत प्रेम की आकुलता को स्पष्ट कर रही है। 'प्रीति पुरातन' पद सीताजी को 'नित्य संयोगिनी' के रूप में व्यक्त करता है। मनु-शतरूपा प्रसंग की आकाशवाणी- 'परम सक्ति समेत अवितरिहउँ' द्रष्टव्य है। सयानी सखियाँ उनके मनोभावों को समझ गई हैं।

प्रिय सखी जिसे हम अंतरंग सखी मान सकते हैं, मार्गदर्शन करती हुई आगे आगे चलती है और अन्य सखियों के साथ किशोरी जी उसका अनुगमन कर रही हैं। प्रसंग का सौंदर्य विचारणीय है। सर्वप्रथम श्रीराम जानकी को देखते हैं। प्रसन्न राघव के अनुसार उनके मनोभाव जिस रूप में सीता को देखते हैं, वह उल्लेखनीय है-

अयक्रान्ते बाल्ये तरुणमनि चागन्तुमनसि
प्रयाते मुग्धत्वे चतुरमणि चाश्लेषरसिके।
न केनापि स्पृष्टं यदिह वयसा मर्म परमं
तदेतत्पंचेषोर्जयति वपुरिन्दीवर सदृशः।।

(प्र. रा. २/११)

अर्थात् यह राजकुमारी बाल्य और यौवन रूप अवस्थाओं के बीच में है। जैसे बचपन के बीत जाने पर जवानी के आने की इच्छा करने पर, भोलेपन के जाने पर तथा चतुरता के आलिंगन करने के इच्छुक होने पर (संप्रति) कमल नयनी (सीता) का जो शरीर किसी भी अवस्था के द्वारा नहीं छुआ गया है, वह यह (सीता का शरीर) कामदेव के परम रहस्यभूय (होता हुआ) इस संसार में सर्वश्रेष्ठ है।

तुलसी इसी दृश्य को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं- 'सियमुख ससि भए नयन चकोरा', परंतु उस क्षण सीता जी राम को नहीं देख पातीं। इसके बाद 'लता ओट तब सखिन्ह लखाए। स्यामल गौर किसोर सुहाए' के अनुसार किशोरी जी राम-लक्ष्मण को केवल देखती भर नहीं हैं, वरन् 'हरषे जनु निज निधि पहिचाने'। भौतिक दृष्टि से तो आमने-सामने होने पर एक दूसरे को देख ही लेना चाहिए, परंतु मानसकार ने मर्यादा निर्वाह करने की दृष्टि से इस मिलन को इस कौशल के साथ लिखा है कि दोनों ने एक दूसरे को अनजाने में देखा। अर्थात् देखा तो सही पर दृष्टि नहीं मिली। 'लता ओट' पद भी मर्यादा निर्वाह को स्पष्ट रूप से रेखांकित करता है। कारण यह है कि सती महिला (स्त्री) अपने विवाह से पूर्व किसी भी पुरुष को आँखें मिलाकर नहीं देखना चाहती, तुलसीदास ने सीता जी की ओर से 'प्रीति पुनीत' पद एवं श्री राम की ओर से 'सहज पुनीत' पद का प्रयोग करके सजगतापूर्वक मर्यादा का उत्तम रीति से निर्वाह किया है। एकांत मिलन के बजाय समूह मिलन दर्शाना भी मर्यादा की दृष्टि से किया गया है। सखी भाव का उद्‌देश्य प्रिया-प्रियतम को मिलाना ही है। यहाँ यह भी ध्यान रखना होगा कि भगवान और उनकी आदि शक्ति प्रथम तो आप्तकाम हैं और दूसरे तात्विक रूप से दोनों एक हैं- अभेद हैं। यह दिव्यलीला भक्तों को आनंदित रसानुभूति कराने के लिए ही होती है। श्यामा श्याम तो आनंद रस के सागर हैं ही।

'सिय मुख ससि भए नयन चकोरा'- जब श्रीराम जनक नंदिनी को देखते हैं तो इस भाव से श्रीराम प्रेमी हैं और सीताजी प्रेमपात्र। परंतु जब किशोरी जी श्रीराम को देखती हैं सरद ससिहि जनु चितव चकोरी' तो इस दृश्य में सीताजी प्रेमी हैं और श्रीराम प्रेमपात्र। इस प्रकार दोनों में परस्पर समता, मिलन की चाह और मन की एकरूपता है। निकुंज लीला में सखी भाव की इसी विशेषता को दर्शाते हुए कहा गया- 'सखी ये दोऊ चकोर दोउ चन्दा।' प्रेमी और प्रेमपात्र के परम पावन परस्परता को चित्रित करते हुए संत भगवतरसिक जी कहते हैं-

तुव मुख चद चकोर ये नैना।
अति आरति, अनुरागी, लंपट, भूल गई गति पलहू लगैना।
अरबरात मिलिबे कों निसिदिन, मिलेही रहत मनु कबहुँ मिलेना।
भगवत रसिक रसिक की बातें, रसिक बिना कोउ समुझि सकैना।।

इस पुनीत पारस्परिक दर्शन लाभ की परिणति होती है- लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हें पलक कपाट सयानी।

श्रीमद्भागवतकार इसी भाव का निम्न श्लोक के माध्यम से वर्णन करते हैं-

'अपरा निमिषद्दृग्भ्यां जुषाणा तन्मुखाम्बुजम्'

(१०-३२-७)

वस्तुस्थिति यह है कि थके नयन रघुपति छवि देखे। पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेषें। अर्थात् देखते देखते मन नहीं भरता और निरंतर देखने से प्रेम सार्वजनिक हो जाने के भय से लज्जा का अनुभव होता है तो स्थायी दर्शन निमित्त रूप को हृदय में स्थापित कर लिया गया। इस अपलक दर्शन लालसा से सीता की सखियाँ भी संकोच मिश्रित लज्जा का अनुभव कर रही हैं और तुलसी ने लिख भी दिया कि-

जब सिय सखिन्ह प्रेमबस जानी। कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी।

गोस्वामी जी ने इस अवसर पर लघुवयस किशोरी जी को सयानी विशेषण से संबोधित किया है। प्रेमास्पद का निवास प्रेमी का हृदय ही होता है, पलक बंद करने का अभिप्राय जहां चित्त की द्रवीभूत अवस्था है, वहीं टकटकी लगाकर देखना शील स्वभाव एवं कुलीनता की मर्यादा के प्रतिकूल भी है। यहां सीता जी द्वारा नेत्रबंद कर लेने और सखियों द्वारा उन्हें कुछ न कहने का कारण यह है कि एक तो राजकुमारी होने से जानकी स्वतंत्र हैं (सखियों के अधीन नहीं है) और दूसरे सखीभाव के अनुसार उनका स्थान इष्ट देवी का है। जिस प्रकार सीता जी ने श्रीराम को अपने हृदय में स्थापित कर लिया, उसी प्रकार की स्थिति श्रीराम को भी है। वे भी-

परम प्रेममय मृदु मसि कीन्ही, चारु चित्त भीतीं लिख लीन्हीं।

इस श्रृंखला में सखीभाव का परिपाक दर्शाते हुए कहा गया-

धरि धीरजु एक आलि सयानी। सीता सन बोली गहि पानी।।
बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू। भूप किसोर देखि किन लेहू।।

इस चौपाई में सखि के कथन में हास्य व्यंग का सुंदर पुट है, वहीं जानकी को एक बार फिर दर्शन कर लेने की प्रेरणा भी हैं। सखीभाव की विशेषता यही है कि वे निरंतर प्रिया प्रियतम को मिलाने प्रवृत्त करने का प्रयास-परिस्थिति बनाए रखती हैं और उन दोनों के मिलन सुख को ही अपना सौभाग्य समझती हैं। यही रसिकता है परंतु पारस्परिक मिलन के प्रति स्वयं आकर्षित नहीं होतीं। प्रथम मिलन की सुखानुभूति को परवर्धित करने के उद्देश्य से एक अन्य सखी कह उठती है-

पुनि आउब एहि बिरियाँ काली। असि कहि मन बिहंसी एक आली।

इस वाक्य से एक ओर कवि की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय मिलता है वहीं उनका चित्रण काव्य की कसौटी पर खरा उतरता है। व्यंगकार का कटाक्ष करते हुए स्वयं हँसना वर्जित माना गया है। इसीलिए तुलसी इस दृश्य का चित्रण करते हुए कहते हैं- 'मन बिहँसी एक आली' इस परिदृश्य में सखीभाव एक बार पुनः मुखर हो उठता है जब एक सखी पुनर्मिलन का आश्वासन देती है। प्रेमोपासना में समय का आस्तित्व ही नहीं है, इसीलिए नित्य विहार को अखंड, एकरस तथा निरवधि माना गया है, परंतु मर्यादा रक्षण के प्रति सजग मानसकार विलंब भय के माध्यम से सीता जी और सखियों को घर लौटने की प्रेरणा देते हैं। सयानी सखियाँ अयानी प्रेम परवस सीता को एक ओर जहाँ प्रेम के अधीर न होकर संयम पूर्वक मानिनी बने रहने की अपरोक्ष शिक्षा देती हैं, वहीं, अपने उत्तरदायित्व के प्रति जागरूक रहकर सीता को समय से घर पहुंचाने के लिए भी प्रयत्नशील हैं। इस दृष्टि से यह प्रसंग अद्भुत रस का अगाध सागर है।

स्वयंवर के समय जानकी के लिए 'जगदम्बिका' शब्द का प्रयोग करके मानसकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि पुष्पवाटिका में ही सीता-राम मिलन लौकिक नर लीला न होकर परब्रह्म तथा आदि शक्ति की दिव्य रस लीला है जो भक्त उपासकों को आनंदित करने के हेतु से ही होती है। इसी दृष्टि से 'प्रीति अलौकिक' तथा 'प्रीति पुरातन' जैसे विशुद्ध सात्विक पदों का प्रयोग कर प्रसंग को दिव्यता प्रदान की गई है। इस प्रसंग में नौ बार प्रीति-प्रेम शब्द तथा प्रेम के सामान्य एवं विशेष लक्षणों को दर्शाना यह सिद्ध करता है कि यह विशुद्ध प्रेम रस की दिव्य लीला है।

प्रेमभूमि मिथिला (अयोध्या वैराग्य भूमि, काशी ज्ञान भूमि तथा मथुरा और मिथिला प्रेम भूमि के लिए विख्यात है) की इस रस लीला प्रकरण में ४६ बार सखी, सखिन्ह तथा आली शब्दों का प्रयोग यह प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है कि मानस में सखीभाव को अपनाया ही नहीं गया वरन् सम्मानपूर्वक प्रतिष्ठित किया गया है। पुष्पवाटिका प्रसंग को प्रसन्न राघव नाटक से तथा सखीभाव को हरिदासी संप्रदाय से ग्रहण कर मानस में समाविष्ट करने का तुलसी का निर्णय अकारण नहीं था। उनकी गुण ग्राहकता तथा लोक हितैपिता वृत्ति ही इसमें सहायक हुई होगी। उनके मन में यह भावना अवश्य रही होगी कि मानस प्रत्येक दृष्टि से एक सफल संपूर्ण प्रबंध काव्य बने जिसमें सबके लिए सब कुछ उपलब्ध हो। ●

लालित्य का संदर्भ और साहित्य

- डॉ. रवि कुमार 'अनु'

आज हिंदी साहित्य अपनी लंबी यात्रा तय करके जिन साहित्यिक मूल्यों की संपत्ति का संग्रह कर पाया है, उन्हें यदि हम समझने का प्रयास करें तो कुल मिलाकर, उसकी सभी विधाओं में मनुष्य की चिंता ही उसकी सर्वोपरि चिंता है। उस मनुष्य-चिंता की दिशाएं भी एकदम स्पष्ट हैं। वह पुराने साहित्यकार की तरह कल्पना लोक में विचरण करते हुए अपने पाठक को न तो आदर्शों की तश्तरी सजा कर पेश करना अपना धर्म समझता है, न ही भविष्य के सुनहरे सपनों का संसार सजा कर प्रस्तुत करता है और न ही अतीत की स्मृतियों की जुगाली करने में रस अनुभव करता है। यद्यपि वह सर्वत्र मनुष्य की चिंता से ही ग्रस्त दिखलायी देता है, परंतु वह उसके वर्तमान को यथार्थ रूप में पेश करते हुए उसे संघर्षों के लिए मानसिक रूप से तैयार करता है, वह भविष्य की चिंता से भी ग्रस्त है, परंतु भविष्य निर्माण की कला सिखाना अपना कर्तव्य समझता है। अतीत को लेकर भी उसकी सोच एकदम स्पष्ट है। वह अतीत को प्रेरक रूप में ग्रहण करने के लिए तैयार है, न कि मरे हुए बच्चे को बंदरिया की तरह पीठ पर चिपकाए घूमने में गर्व अनुभव करता है। यदि इन सबको और भी समेट कर देखने का प्रयास करें तो हम कह सकते हैं कि आज का साहित्यकार मनुष्य के वर्तमान को लेकर अधिक चिंतित है और इसी को ध्यान में रखते हुए वह अतीत और भविष्य से अपना संबंध स्थापित करता है। अब प्रश्न उठता है कि वर्तमान को वह किस दृष्टि से देखता है? या कहें वर्तमान को देखने, समझने व व्याख्यायित करने की उसके पास कसौटी क्या है? बस, यहीं आकर अक्सर गड़बड़ हो जाती है।

मनुष्य-चिंता तो निस्संदेह साहित्यकार के लिए महत्वपूर्ण तथ्य है और यह भी सही है कि वह यथार्थ की जमीन पर खड़े होकर स्थितियों का आकलन करता है। परंतु उसके लिए वह जो नैतिक मापदण्ड अपनाता है, वह हर समय ठीक नहीं होते। अक्सर वह एकांगी दृष्टिकोण से अथवा भावावेश की अवस्था में संकीर्ण विचारों से युक्त अपने निर्णय दे देता है, जिसके फलस्वरूप उसकी रचना काल विशेष का महत्वपूर्ण दस्तावेज बनकर भी कालजयी नहीं बन पाती। वस्तुतः कालजयी रचना के लिए अपेक्षित तत्व भिन्न है। उन्हें हम लालित्य तत्व की व्याख्या में कहीं खोज सकते हैं क्योंकि लालित्य ही हमारी दृष्टि में ऐसा व्यापक तत्व है जो अपने भीतर एक साथ सौंदर्य और समष्टि चिंतन की अपेक्षा को समेटे रहता है। सच पूछा जाये तो लालित्य अथवा सौंदर्य की यात्रा का अंतिम छोर समष्टि चिंतन से ही जुड़ा हुआ है। इस प्रकार जब व्यष्टि चिंतन अपने 'स्व' का विस्तार करते हुए समष्टि हित की ओर अग्रसर होता है तो वस्तुतः लालित्य का सृजन होता है और उस समय लालित्य की छटा में छंद के से रिदम अथवा नर्तन का अनुभव होता है, जो अपनी लयात्मक गति द्वारा जड़ता से मुक्ति की ओर प्रयाण करता है, जहां अनेकता में एकत्व का साक्षात्कार होता है। यही व्यष्टि से समष्टि तक की यात्रा का भेद है। इसे आचार्य द्विवेदी ने छंद के माध्यम से व्याख्यायित किया है। उनके अनुसार, लालित्य और छंद में कोई अंतर नहीं है क्योंकि जिस वस्तु में छंद होगा, उसमें लालित्य होगा और जिसमें लालित्य होगा, उसमें एक छंद होगा, राग होगा, क्रम होगा। इस दृष्टि से उन्होंने लालित्य को उसके व्यापक अर्थों में ग्रहण किया है। उनका विश्वास है कि विश्व व्यवस्था के मूल में एक व्यापक छंद है, उसी से गति है, चेतना है, इच्छा है, क्रिया है, मिलन है, एकत्व है, लय है, राग है, नृत्य है, संगीत है, काव्य है। (हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग-८, पृ. १६८-१७०)

इसी बात को गुरुदेव रवींद्रनाथ अन्य ढंग से समझाते हैं। वे लिखते हैं, 'बात को उसके जड़ धर्म से मुक्ति देने के लिए ही छंद है। सितार में तार बंधे रहते हैं, लेकिन उन तारों से सुर निकलते हैं। छंद वही तार बंधा सितार है, तार के भीतर के सुर को वह मुक्ति देता है। वह धनुष की डोरी है, जो बात को तीर के समान लक्ष्य के मर्म पर फेंकती है।' (रवींद्रनाथ के निबंध, भाग-२, पृ. २४७) इस प्रकार छंद बंधन में गति है। वह भार साम्य की रक्षा करता है, संतुलन नहीं बिगड़ने देता। दूसरे शब्दों में कहें, तो छंद सर्जनेच्छा या सिसृक्षा के अतिरिक्त कुछ नहीं है। शिव की सर्जनेच्छा शक्ति है, जिसे ललित कहते हैं। मनुष्य की सर्जनेच्छा लालित्य है। अतः लालित्य विश्वव्यापिनी सर्जनात्मक शक्ति 'ललिता' का ही व्यष्टि रूप है? (वही, भाग-७, पृ. ३४) इस प्रकार छंद में लालित्य है, लालित्य से कला है, कला में सौंदर्य है, सौंदर्य में

एकत्व निहित है। इसे भट्टनायक ने साधारणीकरण के सिद्धांत द्वारा भिन्न ढंग से परोक्षतः सिद्ध कर दिया। उसने कृति के सौंदर्य को समष्टिगत धरातल पर समस्त सामाजिकों द्वारा एक साथ आस्वादन की मानसिक अवस्था में पहुंचाकर भले ही साधारणीकरण का सीधा सा सिद्धांत दिया, परंतु परोक्षतः यह सिद्धांत कला के व्यष्टि की परिधि से निकलकर समष्टि स्वीकृति के माध्यम से सौंदर्य की कसौटी निश्चित करता है। इस प्रकार सौंदर्य वास्तव में वस्तु की समग्रता की अनुभूति है। दार्शनिक दृष्टि से देखें तो सत्य, शिव और सुंदर एक ही वस्तु की भिन्न अवस्थाएं हैं, जो अविनाशी और शाश्वत है, वही सत्य है। वह आनंदरूपा है अर्थात् ईश्वर रूप है। श्रुतियों में 'आनंद रूपममृतम्' कहकर ईश्वर का वर्णन किया गया है। आनंद ही सौंदर्य रूप से प्रतिमासित होता है। सौंदर्य भागवत है, किंतु अनुभूत होने के लिए वह रूप के भीतर सीमित हो जाता है? (बुद्धिनाथ झा 'कैरव', साहित्य साधना की पृष्ठभूमि, पृ. २२)

सौंदर्य की जब हम बात कर ही रहे हैं तो हमें यहां यह भी समझ लेना चाहिए कि सौंदर्य के दो रूप होते हैं- प्राकृतिक सौंदर्य तथा मानवीय इच्छा शक्ति के विलास का सौंदर्य। भले ही दूसरा सौंदर्य प्रथम द्वारा चालित होता है, परंतु जब वह अपने स्वतंत्र अस्तित्व को ग्रहण करता है तो वह प्राकृतिक सौंदर्य को और भी भव्य बना देता है। पाश्चात्य विचारक अरस्तू ने इसी तर्क के आधार पर अपने गुरु प्लेटो की मान्यता को निरस्त किया। अरस्तू की मान्यता है कि काव्य का सत्य देशकाल की सीमा से मुक्त सार्वभौम तथा सार्वकालिक होने के कारण वस्तु सत्य की अपेक्षा भव्यतर होता है। (नगेंद्र, 'अरस्तू का काव्यशास्त्र', पृ. ४४) इतना ही नहीं, अरस्तू त्रासदी और कामदी का सिद्धांत मात्र इसलिए देते हैं कि इनके द्वारा कटु भावों की उद्‌बुद्धि करके, मन को विकारों से मुक्त किया जा सकता है। त्रासदी का भाव मात्र इतना ही नहीं है कि वह भावों को उद्‌बुद्ध करके छोड़ देती है। वस्तुतः भावों की उद्‌बुद्धि आनंद नहीं है, उनका समंजन आनंद है। (वही, पृ. ६२) आधुनिक अस्तित्ववादी विचारक नीत्शे की दृष्टि में कला का मुख्य प्रयोजन है कि उसके द्वारा हम अस्तित्व पर सोचने, उसे समझने और अनुभव करने की शक्ति प्राप्त करते हैं और इसी चिंतन तथा अनुभूति से अस्तित्व की सार्थकता और पूर्णता का हमें ज्ञान होता है। (लालचंद गुप्त 'मंगल' : 'अस्तित्ववाद : दार्शनिक तथा साहित्यिक भूमिका', पृ. १०६) कामू भी 'सब लोगों के दुःख सुख को वाणी प्रदान करना' कला का मुख्य प्रयोजन स्वीकार करते हुए कहते हैं कि इस दृष्टि से वह किसी की भी दुश्मन नहीं है। (वही, पृ. १०७) इसी प्रकार मार्क्स का भी समस्त सिद्धांत मनुष्य को 'मनुष्यत्व' दिलवाने, दिखलाने तथा समझाने के लिए है। तो फिर विरोध कहां है? इससे तो यही बात पुनः सिद्ध होती है कि सत्य का स्वरूप एकसाथ अविरोधी, समष्टिगत, सार्वकालिक तथा निश्चित ही कहीं भव्यतर सौंदर्यात्मक अनुभूतियों से युक्त होता है। इसीलिए उसमें सौंदर्य छिपा रहता है और इसके संप्रेषण का कार्य साहित्य अथवा कला द्वारा संपन्न होता है। नाट्यशास्त्र में लिखा है-, 'नाच, गान, नाटक केवल मनोविनोद नहीं है, परम मांगल्य के जनक हैं। इनको विधिपूर्वक करने से गृहस्थ के अनेक पुराकृत कर्म से उत्पन्न विघ्न नष्ट होते हैं, पाप क्षय होता है और सुललित फलों वाला कल्याण होता है।' (भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, अध्याय ३६, श्लोक ७७) इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मानवीय इच्छा शक्ति के विलास का सौंदर्य जब साहित्य अथवा कला द्वारा प्रेषित होता है तो वह आंतरिक रूप से सोद्‌देश्य होता है, जो सामाजिक संप्रेषण के हितों में मानसिक शक्तियों की संस्कृति के उत्कर्षण का सामर्थ्य रखता है। (इमैनुअल कान्ट, सौंदर्य मीमांसा, पृ. १२०) अतः प्राकृतिक सौंदर्य जहां केवल अनुभूति देकर विरत हो जाता है, वहां दूसरा अनुभूति से उत्पन्न होकर परंपरा का निर्माण करता है। (हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग-७, पृ. ३४) भाषा में, मिथक में, धर्म में, काव्य में, मूर्ति में, चित्र में बहुधा अभिव्यक्त मानवीय इच्छा शक्ति का अनुपम विलास ही वह सौंदर्य है, जो वास्तव में साहित्य का अपेक्षित मूल्य है। ईश्वरीय सर्जनेच्छा के प्रतीक ललित के समानांतर मनुष्य द्वारा रचित लालित्य। और छंद इस लालित्य की गति है जो संगीत में, काव्य में, चित्र में, मूर्ति में स्पंदन उत्पन्न करता है, उसे जीवंत बनाता है और समष्टि द्वारा स्वीकार्य बनाकर उसे शाश्वत बनाता है। निस्संदेह समष्टि स्वीकृति की स्थिति में किसी अवरोधी धारणा की उपस्थिति छिपी है, जो अपने अविरोधी और समष्टि ग्राह्य रूप के कारण ही मूल्य बन जाती है।

इस प्रकार उपर्युक्त चर्चा में एक बात बिल्कुल स्पष्ट होती है कि स्थितियों को देखने, समझने या व्याख्यायित करने की हमारी सोच का स्वरूप कहीं न कहीं समष्टि चित्त की प्रकृति के अनुकूल अवश्य रहना चाहिए। जब हम इस महत्वपूर्ण सत्य की उपेक्षा करते हैं, तभी हम अपने अपने निकष और अपने अपने सत्य लेकर दूसरों से टकराने की स्थिति उत्पन्न कर लेते हैं। 'अंधा युग' में धर्मवीर भारती ने

एक ओर गांधारी, धृतराष्ट्र तथा दूसरी ओर विदुर के माध्यम से कृष्ण चरित्र को विचित्र द्वंद्वात्मक स्थितियों में खड़ा किया है। जो कृष्ण अपने निःस्वार्थ कार्यों के कारण विदुर को 'प्रभु' लगते हैं, वही कृष्ण गांधारी और धृतराष्ट्र को 'वंचक' लगते हैं। कारण स्पष्ट है। विदुर कृष्ण के कृत्यों को समष्टि हित के संदर्भ में देखते हैं जबकि गांधारी तथा धृतराष्ट्र का सत्य मात्र अपनी संतान के मोह तक सीमित है। यद्यपि गांधारी के क्षोभ में उसका ममत्व बोलता है, जो कि मनुष्यजनोचित उद्‌गारों के अनुरूप ही है, परंतु हमें स्थितियों को व्यक्तिगत क्षुद्र स्वार्थों व सीमाओं से मुक्त होकर देखना चाहिए। इसी क्रम में हम यहां आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के एक निबंध 'भीष्म को क्षमा नहीं किया गया' की चर्चा भी कर सकते हैं। यद्यपि प्राचीन इतिहास में भीष्म जैसा धर्मज्ञ और ज्ञानी खोजना कठिन है, इतना ही नहीं स्वयं कृष्ण भी इस दृष्टि से उनके सम्मुख हतदर्प दिखलायी देते हैं तथापि वहां भी कृष्ण ही पूर्णावतार के रूप में स्वीकृत हुए। इसका कारण स्पष्ट करते हुए आचार्य द्विवेदी नारद का मत व्यक्त करते हैं, जो मानते थे कि सत्य के बारे में शब्दों पर चिपटने के बदले सबके हित या कल्याण की कामना करना अधिक उपयुक्त है। 'भीष्म ने दूसरे पक्ष की उपेक्षा की थी।' वह 'सत्यस्य वचनम्' को 'हित' से अधिक महत्व दे गए। श्रीकृष्ण ने ठीक इससे उलटा आचरण किया। प्रतिज्ञा में 'सत्यस्य वचनम्' की अपेक्षा 'हितं' को अधिक महत्व दिया। (हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग-६, पृ. २५१) फलस्वरूप भारतीय सामूहिक चित्त ने उन्हें पूर्णावतार मानकर अपना मौन समर्थन दिया।

यहां इस लंबी चर्चा में एक संदर्भ और उठाना चाहूंगा। 'हंस' पत्रिका के संपादक राजेंद्र यादव ने जून २००३ के संपादकीय (साहित्य : व्यक्तित्व और अस्मिताबोध) में साहित्य में सांस्कृतिक मूल्यों अथवा शब्द के माध्यम से मोक्ष प्रदान करने के समर्थक साहित्यकारों पर कटाक्ष करके कुछ मुद्दे उठाते हुए अपनी टिप्पणी दी- 'यह भजन मंडली (उन्हीं के शब्दों में 'आत्मप्रशस्तियों से भरे साहित्यकारों' की) हर कहीं साहित्य के ढोल मजीरे बजाती, निजगुन गाती देखी जा सकती है- इसका आधुनिक नाम है गोष्ठियां, विमर्श और सेमिनार. ... एकमात्र विषय 'धर्म की तरह साहित्य भी हमें संवेदनशील और उदात्त बनाता है, शब्द हमें मोक्ष देता है।' (हंस, जून २००३, पृ. ४) यह टिप्पणी जिस व्यंग्यात्मक तरीके से की गई, उसे देखकर क्षोभ होता है। प्राप्त तथ्यों को देखने का यह एकांगी दृष्टिकोण है या कहें कि अपनी दृष्टि से देखने का बालहठ। अपने इसी संपादकीय में वे अनजाने में उन मूल्यों का (शब्द हमें मोक्ष देता है) परोक्षतः संकेत भी करते हैं, जब उन्होंने प्रश्न उठाया कि 'चारुचंद्रलेख' और 'दिव्या' या 'चित्रलेखा' तीनों ही ऐतिहासिक परिकल्पनाएं हैं- मगर श्रेष्ठता का सेहरा सिर्फ 'चारुचंद्रलेख' को है। क्या इसके पीछे समय निषेध का अवचेतन तो नहीं है? (वही, पृ. ६) अर्थात् यादव जी को लगता है कि संस्कृतिवादी (तथाकथित आलोचक) समय और समाज से निरपेक्ष होकर अपनी ही दुनिया में बंद रहते हैं जिनके मोह को पहली बार मार्क्सवादियों ने तोड़ा था। (वही, पृ. ७) जबकि सत्य इसके विपरीत है। 'चारुचंद्रलेख' को संस्कृतिवादी अपने मोहवश श्रेष्ठ सिद्ध नहीं करते, अपितु वहां एक ही सत्य है, जो उसकी श्रेष्ठता की कसौटी बना है और वह है शब्द के माध्यम से मुक्ति! 'चारुचंद्रलेख' समष्टि हित की चिंता लेकर चलता है- इसलिए कालजयी है। यादव जी के कहने भर से कि 'अपने को पूरी तरह स्थगित किए या दुनिया भर की रियायतें दिए बिना आज 'कालिदास' का रसास्वादन असंभव है।' (वही, पृ. ६) -कालिदास की प्रासंगिकता समाप्त नहीं हो जाती। कालिदास अपने समूचे साहित्य में मनुष्य को जो तपस्या और त्याग के मूल्य प्रदान करता है- वे आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं, जितने उस समय थे। दूसरे, आदरणीय यादव जी, चारुचंद्रलेख या कालिदास के संदर्भ में तो अपनी व्यक्तिगत रुचियों/अरुचियों को पाठकों पर थोप सकते हैं, परंतु जब आत्मप्रशस्तियों (संस्कृतिवादियों) से भरे साहित्यकारों पर आरोप लगाते हुए लिखते हैं कि 'क्यों कोई रचना साहित्यिक होती है और साहित्यिक नहीं होती, इसकी तार्किक व्याख्या नहीं दी जा सकती- वहां अंततः व्यक्तिगत पसंद, नापसंद ही निर्णायक है। जो एक को साहित्यिक लगती है, वह दूसरे को दो कौड़ी की लग सकती है। इसके पीछे जनतांत्रिक सोच नहीं, शुद्धता का वही व्यक्तिगत धार्मिक आग्रह होता है' (हंस, जून २००३, पृ. ६)... तब वे भूल जाते हैं कि धार्मिक आग्रह से वे भी ग्रस्त हैं, अस्तु।

बात यथार्थ को देखने, समझने और व्याख्यायित करने की थी। ऊपर हमने तीन संदर्भ उठाये। उनमें से प्रथम दो जहां स्थितियों के अपेक्षित समष्टिगत रूप की ओर संकेत करते हैं, वहीं तीसरे संदर्भ से अनुभव होता है जैसे साहित्य में संस्कृति अथवा सांस्कृतिक मूल्यों की अपेक्षा रखने वाले कदाचित् कल्पनालोक में ही विचरण करते हैं और उनका प्रगतिशीलता से कोई सरोकार नहीं। हमारी दृष्टि में ऐसा सोचना उचित नहीं। ऊपर क्योंकि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'चारुचंद्रलेख'

का संकेत हुआ तो आचार्य जी के ही चारों उपन्यासों को केंद्र में रखकर चर्चा की जा सकती है। भले ही उनके चारों उपन्यासों का फलक औपनिषदिक व ऐतिहासिक युगों से जुड़ा है, परंतु वे चारों उपन्यास आज की स्थितियों में अपनी प्रासंगिकता को लेकर किसी भी दृष्टि से कम नहीं हैं। वस्तुतः इतिहास के नेपथ्य से निकल कर जब हम आधुनिकता के मंच पर प्रवेश करते हैं तो वहां सहज ही एक परिवर्तन दिखलायी देता है। आधुनिक काल में मध्यकालीन पारलौकिक दृष्टिकोण के बदले इहलौकिक दृष्टिकोण का विकास होता है, जिसके फलस्वरूप एक तो ईश्वर अपने ब्रह्मलोक को त्यागकर इहलोक में सामान्य मनुष्य के रूप में प्रवेश पाता है अर्थात् मध्ययुग का ईश्वर चिंतन इस युग में मनुष्य चिंतन में परिवर्तित हो जाता है तथा दूसरे व्यष्टि हित के बदले समष्टि हित का चिंतन पल्लवित होता है। द्विवेदी इसी दृष्टिकोण के तहत इतिहास को वर्तमान में प्रासंगिक बनाते हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का बाणभट्ट डूबती हुई महावराह की मूर्ति और भट्टिनी में से भट्टिनी को बचाना अपना परम कर्तव्य समझता है- 'हे जलौघमग्ना सचराचरधरा' के उद्धारकर्ता, तुमसे अधिक चिंता मुझे तुम्हारे भक्त की है, अविनय क्षमा हो, मैं तुम्हें गंगा की पवित्र धारा में विसर्जन कर रहा हूँ।' (हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग-१, बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ. १२१)) उधर 'अनामदास का पोथा' का रैक्व अंततः इस सत्य से परिचित होता है कि 'मैं जो गाड़ी के नीचे बैठकर तप कर रहा था, वह झूठा तप था। सही तपस्या गाड़ी चलाकर (असहायों की सहायता करके) की जा सकती है।' (वही, भाग २, अनामदास का पोथा, पृ. ३७६) इतना ही नहीं, अपने तीसरे उपन्यास 'चारुचंद्रलेख' में भी आचार्य द्विवेदी साधना तथा धर्म के लोक सापेक्ष रूप को ही वाणी देते दिखलायी पड़ते हैं- 'यह सुंदरी साधना, यह महाचीनाचार, यह चक्रपूजा, यह महाविद्या सिद्धि आपको नहीं बचा सकते। ये सारे आचार आपके धर्म को नहीं बचा सकते, आपके शरीर को नहीं बचा सकते। शरीर ही नष्ट हो गया तो आपका इहलोक और परलोक दोनों नष्ट हो गये। इसीलिए स्वर्ग के बाहको, उठो, संगठित होकर अत्याचार (विदेशी आक्रमणकारियों) का सामना करो?' (हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग-१, चारुचंद्रलेख पृ. ३८२) कदाचित् आधुनिक संदर्भों में धर्म की इससे बढ़िया व्याख्या हो हीं सकती कि 'सामाजिक मंगल के लिए जो सहज प्रवृत्ति है, उसी का नाम धर्म है। उसके विरुद्ध जानेवाला अधर्मी है।' (वही, पृ. ४७५) 'सामाजिक मंगल' का यही गुरुमंत्र लालित्य की तो कुंजी है ही, अपने आपको प्रगतिशील या जनवादी या दलित वर्ग के उद्धारकर्ता कहने वालों की विचारधारा का भी केंद्रीय बिंदु यही है। तो फिर विरोध कहां है? शायद विरोध से अधिक 'एलर्जी' इस बात से है कि लोकमंगल की कामना में संस्कृतिवादी धर्म और ईश्वर को क्यों घसीट लेते हैं? लेखक का एक अन्य उपन्यास 'पुनर्नवा' अपने शीर्षक के अर्थ के अनुरूप परंपराओं के निरंतर परिष्कार और परिमार्जन का संदेश देता है। (वही, भाग-२, पृ.१६६) इस प्रकार आचार्य द्विवेदी के चारों उपन्यासों के केंद्रीय भाव का प्रतिनिधित्व करने वाले उपर्युक्त उदाहरण हमारे समक्ष स्वयमेव वह विराट सत्य उद्घाटित कर देते हैं, जिसके कारण उनका उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्म कथा' जहां भारतीय क्लासिकल साहित्य में अपना स्थान अक्षुण्ण बना सका है, वहीं 'चारुचंद्रलेख' में वह रहस्य छिपा है जो लोगों को इस बात के लिए परेशान करता है कि वह अपने समकक्ष रखे जाने योग्य अन्य उपन्यासों से अधिक श्रेष्ठ क्यों है?

उपर्युक्त चर्चा में एक बात स्पष्ट है कि आचार्य द्विवेदी भी अपने लेखन में यथार्थ के उसी धरातल पर खड़े हैं, जहां आज का कोई भी प्रगतिशील लेखक अपने खड़े होने का दावा करता है। परंतु फिर भी द्विवेदी ने यथार्थ प्रस्तुतीकरण के लिए न तो उन स्थितियों को आधार बनाया जो हमारे भीतर जुगुप्सित भाव जागृत करती हैं, न कुण्ठा जगाने वाली भावनाएं ही उनमें स्थान ले पाईं और न ही इसके लिए उन्होंने किसी प्रकार की अश्लील भाषा का सहारा लिया। विपरीत इसके, उनके उपन्यासों का कथ्य और शिल्प हर दृष्टि से लालित्य की छटा से युक्त है तथा वे हर उस शर्त को पूरा करते हैं जिनके अंतर्गत लालित्य का समष्टि सापेक्ष स्वरूप अर्थ ग्रहण करता है।

इस प्रकार अंततः हमें यह स्वीकार करना होगा कि साहित्य और लालित्य का अटूट संबंध है बल्कि कहना चाहिए कि लालित्य ही किसी लेखन को श्रेष्ठ साहित्य की कोटि में खींच कर लाता है अन्यथा जिसे हम सस्ता साहित्य कह कर नकारते हैं, समूचे साहित्य की यही स्थिति बन जाये। दूसरे, जब हम साहित्य और लालित्य का परस्पर संबंध स्वीकार कर रहे हैं तो लालित्य की कसौटी समष्टि स्वीकृति, भी साहित्य की श्रेष्ठता की कसौटी अनायास बन जाती है। आज हमें साहित्य को इसी दिशा में बढ़ाने की आवश्यकता है। हम साहित्य में यथार्थ की ही बात करें, किंतु यथार्थ के नाम पर कुण्ठा, अश्लीलता या गाली गलौच को इसमें शामिल न करें, तभी हम अपने दायित्व का निर्वाह ईमानदारी से निभा पायेंगे और तभी हम सही अर्थों में साहित्य के माध्यम से मानवीय मूल्यों को दे पायेंगे। ●

कामायनी की पात्र सृष्टि

- डॉ. चेतना सिंह

प्रसाद साहित्य का एक विशाल अंश पात्रों की सृष्टि से संयुक्त है क्योंकि समस्त कथासूत्र पात्रों के द्वारा ही संचारित होता है। ये पात्र विविध मनोभावों व गति व्यापारों से संयुक्त हैं। इनकी योजना विशेष श्रम, मनोयोग व रचना कौशल के साथ जीवन के विविध रूपों व गहन मंतव्यों के अनुशीलन की दृष्टि से की गयी है। अतः यह विशाल पात्र सृष्टि, प्रसाद साहित्य में, विशेष अध्ययन मनन की वस्तु है। प्रसाद ने सैकड़ों पात्रों की सृष्टि की है। जीवन-जगत् मूलक किसी गहरी व्यापक और तीव्र प्रेरणा और मानव चरित्र के मूल रहस्यों को समझने के गंभीर उद्देश्य से परिचालित हुए बिना इतनी विशाल सृष्टि संभव नहीं है। प्रसाद की पात्र सृष्टि इतनी विशाल व वैविध्य वैचित्र्यपूर्ण है कि स्पष्ट वैज्ञानिक आधार पर विभाजन वर्गीकरण के किसी विवादित ढाँचे में उसे आबद्ध कर सकना सरल कार्य नहीं। विविध वृत्तियों, प्रवृत्तियों, जीवन दृष्टियों, रुचियों, मान्यताओं, परिस्थितियों, कार्यक्षेत्रों, क्रियाकलापों, मानसिक ढाँचों, व्यवसायों, भौगोलिक, ऐतिहासिक देशकाल भेद वाले विभिन्न पात्रों का व्यवस्थापन कार्य बाँधने के प्रयत्न के समान ही है।

महाकाव्य का विशाल कलेवर पात्रों के चरित्र निर्माण घटनाओं के वर्णन तथा प्राकृतिक दृश्यों के अंकन से निर्मित होता है। युद्ध संघर्ष, विप्लव क्रांति, प्रेमविवाह, आखेट अभियान आदि स्थूल घटनाओं का विधान तथा प्रकृति के नाना रूपों का वर्णन कथावस्तु को विकसित और चमत्कृत करने के लिए किया जाता है, किंतु यथार्थ में कथानक का मेरुदंड तो काव्य के प्रमुख पात्र ही हैं। उन्हीं के चरित्र की गतिविधि से महाकाव्य की मूल कथा पल्लवित होकर चरमोत्कर्ष फलागम तक पहुंचती है। इसी कारण आधुनिक महाकाव्य की सफलता का मापदंड चरित्र-चित्रण का सौष्ठव माना जाता है। काव्य में पात्र ही प्राणवान शक्ति हैं, उन्हीं के क्रियाकलाप को चित्रित करने प्रतिभाशाली कवि अपने काव्य को सजीव बनाता है।

'कामायनी' इतिहास की पृष्ठभूमि पर रूपक शैली में लिखा हुआ एक ऐसा महाकाव्य है जिसमें न तो पात्रों की भीड़ भाड़ है और न घटनाओं का घटाटोप तथा विस्तार ही है।

'कामायनी' में कुल मिलाकर आठ पात्रों का प्रयोग हुआ है जिसमें से मनु, श्रद्धा तथा इड़ा ये तीन प्रमुख पात्र हैं। मानव, आकुलि तथा किलात गौण पात्र हैं। भावात्मक पात्र के रूप में काम और लज्जा अशरीरी पात्र हैं। इन पात्रों का उल्लेख सर्वप्रथम ऋग्वेदादि वेद संहिताओं में ही मिलता है। 'कामायनी' की पात्र कल्पना का विकास बौद्धिक एवं लौकिक ग्रंथों के आधार पर हुआ है जिनमें से प्रसाद जी का झुकाव वैदिक ग्रंथों की ओर अधिक है। मनु के ऋषिरूप, श्रद्धा की मातृत्व कल्पना तथा इड़ा के बुद्धिवाद की प्रेरणा ऋग्वेद से ली गयी है। कथा के विकास में वे पौराणिक पुरुष की भांति प्रतीत होते हैं पर प्रतीक रूप से विशेष मनोवृत्तियों का आभास होते हैं। इसके अतिरिक्त उनका अपना एक विशेष व्यक्तित्व है। इस प्रकार चरित्र चित्रण में प्राचीन सामग्री, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा काव्य कल्पना का सुंदर समन्वय प्रतीत होता है। 'कामायनी' के पात्र केवल पौराणिक बन कर नहीं रह जाते, वे युगों पूर्व होकर भी नवीनतम परिस्थितियों में चलते दिखाई देते हैं। प्रसाद ने यथार्थ और आदर्श के समन्वय से चरित्र चित्रण किया। अनेक स्थलों पर बिखरे हुए पात्रों की रूपरेखा में कवि ने कल्पना का सहारा लिया और मनोवांछित व्यक्तित्व दिया।

भारतीय वाङ्मय में सृष्टि के आदि पुरुष में परिकल्पित मनु 'कामायनी' के प्रमुख पात्र हैं। महाभारत में ८ मनुओं का उल्लेख है। इनमें से विवस्वान के पुत्र वैवस्वत मनु का संबंध 'कामायनी' के नायक से जोड़ा जा सकता है। कथा का मूल स्रोत 'शतपथ ब्राह्मण' है जिसमें मनु को श्रद्धादेव कहकर अभिहित किया गया है। भागवत् में इन्हीं वैवस्वत मनु और श्रद्धा से मानवीय सृष्टि का आरंभ माना गया है।

'कामायनी' में मनु के अनेक रूप हैं। आरंभ में वे एक तपस्वी के रूप में चित्रित हैं। वे देवताओं के वंशज हैं किंतु देवत्व की अपूर्णता जान लेने के कारण वे उस वैभव विलास में अधिक आस्था नहीं रखते। 'कामायनी' में मनु का चित्रण देवताओं से इतर मानवीय सृष्टि के व्यवस्थापक के रूप में विशेषतः किया गया है। देव सृष्टि के संहार के बाद चिंता मग्न बैठे हुए मनु 'आशा सर्ग' में यज्ञ करना आरंभ करते हैं। इसी के पश्चात् उनका श्रद्धा से मिलन होता है। मनु सौंदर्य पर रीझ उठते हैं। 'काम' और 'वासना' में उनके साधारण मानवस्वरूप के दर्शन होते हैं। स्नेह पर एकाधिकार के कारण मनु के हृदय में ईर्ष्या का उदय होता है। मनु हिंसक यजमान हो जाते हैं। किलात और आकुलि उन्हें पथ भ्रष्ट कर देते हैं। यहीं से मनु का पतन आरंभ हो जाता है। ईर्ष्या सर्ग में श्रद्धा से असंतुष्ट होकर उसे छोड़कर वे चले जाते हैं। अपने भ्रमण में वे सारस्वत प्रदेश जा पहुंचते हैं जहां की अधिष्ठात्री इड़ा थी। इड़ा उन्हें प्रजापति बना देती है। इड़ा के साथ वे एक नयी वैज्ञानिक सभ्यता का नियोजन करते हैं। प्रजापति के अतिचारी होने के कारण प्रजा विद्रोह कर देती है। इड़ा के बार बार समझाने पर भी वे नहीं मानते। अंत में मात्र भौतिकवाद पर अवलंबित मनु का प्रजातंत्र ध्वस्त हो जाता है। श्रद्धा अपने पुत्र मानव को लिए मनु की खोज में सारस्वत प्रदेश तक आ जाती है, जहां दोनों का मिलन होता है। मनु अपनी पिछली भूलों के लिए पश्चात्ताप करते हैं। श्रद्धा मानव को इड़ा के संरक्षण में छोड़कर मनु को लेकर हिमालय की ओर चली जाती है।

मनु का अंतिम स्वरूप ऋषि के अधिक समीप है। 'चिंता' के जिज्ञासु मनु 'आनन्द' में स्वयं सारस्वतनगर निवासियों को जीवनदर्शन समझाते हैं। श्रद्धा की सहायता से मनु आनंद की स्थिति को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार प्रसाद ने मनु के दोनों पक्षों श्रद्धा और इड़ा के सामंजस्य को प्रतिपादित किया है।

मुख्य पात्र श्रद्धा 'कामायनी' की नायिका है। काम गोत्र की होने के कारण उसका नाम 'कामायनी' भी है। श्रद्धा निर्मल एवं उदात्त चरित्र वाली नारी है। श्रद्धा ही मनु को कर्मरत होने की प्रेरणा देती है, उसमें नव आशा का संचार करती है।

श्रद्धा का चरित्र 'कामायनी' में अत्यंत व्यापक है। भारतीय नारी जीवन की पूर्णता के लिए लौकिक जीवन के साथ आध्यात्मिक जीवन भी आवश्यक है। जीवनके ये दोनों पक्ष श्रद्धा में पाये जाते हैं। उसके लौकिक जीवन को हम तीन भागों में बांट सकते हैं- व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक जीवन तथा सामाजिक जीवन। मनु द्वारा प्रवंचित और तिरस्कृत होने पर भी वह अपनी क्षमा और त्याग की वृत्तियों को नहीं छोड़ती क्योंकि श्रद्धा नाम के अनुसार हृदय की सारी उदात्त वृत्तियों की साकार मूर्ति है। नारीत्व की शाश्वत प्रवृत्तियों की प्रतीक है। सेवा उसकी साधना है, कर्म उसका साधन। त्याग उसका संकल्प है, विश्वमंगल उसका व्रत, क्षमा निलय है, सहिष्णुता उसका संवल। समरसता उसका सिद्धांत है, परमार्थ उसका संतोष। अनुराग उसकी निधि है, करुणा उसका आभूषण, जीवन उसका सरल तथा सिद्धांत बहुत ऊँचा है।

श्रद्धा मूलतः माँ है जब कि इड़ा को प्रेयसी के रूप में चित्रित किया गया है। भारतीय व्यवस्था में मां के गौरव के समक्ष प्रेयसी का आकर्षक व्यक्तित्व कहीं नहीं ठहरता। श्रद्धा और इड़ा के सौंदर्य वर्णन में भी कवि ने इस अंतर को बराबर ध्यान में रखा है। श्रद्धा का रूप सौंदर्य मनु के दुःखी और चिंतित मन को शांति प्रदान करता है। इड़ा के व्यक्तित्व का आकर्षण मनु को उत्तेजित और आंदोलित कर देता है। यहीं पर मन की संकल्पात्मक और विकल्पात्मक वृत्तियों का अंतर भी स्पष्ट हो जाता है।

बुद्धिवाद से ग्रस्त और विक्षुब्ध आधुनिक संसार को संदेश देने के लिए श्रद्धा के माध्यम से प्रसाद ने मन की संकल्पात्मक वृत्ति का महत्व प्रतिपादित करना चाहा है। बुद्धि या तर्क की विचारात्मक वृत्ति मनुष्य के लिए अधूरी है जब तक कि उसे श्रद्धा का निर्देशन नहीं मिलता।

मुख्यपात्र इड़ा का उल्लेख और कथा शतपथ ब्राह्मण में है। इड़ा 'कामायनी' महाकाव्य की तीसरी महत्वपूर्ण पात्र है। इड़ा का प्रमुख चित्रण 'इड़ा सर्ग' में है जो 'कामायनी' के श्रेष्ठतम अंशों में से एक है। बुद्धि की प्रतीक रूप में चित्रित

इड़ा मनु को सहज ही आकर्षित कर लेती है।

श्रद्धा को छोड़ देने अनन्तर मनु सारस्वत प्रदेश में पहुँचते हैं, जहाँ की रानी इड़ा है। वह मनु को प्रजापति बनाती है। वे एक नयी वैज्ञानिक सभ्यता को जन्म देते हैं। इड़ा के ऊपर अधिकार चाहने की लालसा के कारण उनके ऊपर शिव का कोप होता है, क्योंकि इड़ा मनु की दुहिता है। वाद में मनु को खोज लेने पर श्रद्धा अपने पुत्र मानव को इड़ा संरक्षण में छोड़कर मनु के साथ चली जाती है।

इड़ा का चरित्र गरिमा एवं ऐश्वर्य से मण्डित है। उसमें कहीं भी कल्मष या संकीर्णता नहीं है। इड़ा नायिका की सहगामिनी है विरोधिनी नहीं, वह तो जीवन की पूरक है। उसके विना तो श्रद्धा भी प्रभावहीन हो जाती है। श्रद्धा और इड़ा के सम्यक् सम्मिश्रण में ही जीवन की पूर्णता निहित है।

'कामायनी' में भावात्मक पात्र काम का स्वरूप ध्यानावस्थित कर प्रसाद जी ने काम को एक बार स्पप्न द्वारा सामने रखा है और दूसरी बार आकाशवाणी द्वारा। यदि प्रसाद उसे सशरीर 'कामायनी' में चित्रित करते तो काम का यह रूप शास्त्र विरुद्ध हो जाता। मनु के जीवन में श्रद्धा के प्रवेश के साथ काम का उदय होता है।

काम 'काम सर्ग' में अपना रूप स्पष्ट करता हुआ कहता है कि वासना एक ऐसी मनोवृत्ति है जो कभी तृप्त नहीं होती तथा उसके अतृप्त रहने के कारण शांति उससे कोसों दूर निवास करती है।

प्रसाद ने काम को व्यापक रूप में ग्रहण किया है। काम मानवजीवन को गतिमान करने वाली चेतना शक्ति है।

प्रलय सृष्टि की भेंट चढ़ चुका काम एक मनोभाव के रूप में ही शेष रह गया है। काम एक कर्तव्यपरायण पिता के रूप में भी हमारे सामने आता है। श्रद्धा उसकी पुत्री है और उसे पाने की मनु की प्रवल कामना है। वह सर्जनात्मक काम की ओर ही मनु को उन्मुख करना चाहता है, वासनात्मक काम की ओर नहीं। जब मनु निर्दोष श्रद्धा को छोड़कर भाग जाते है तो पिता के मन में पुत्री के प्रति प्रेम (वात्सल्य) का जाग्रत होना स्वाभाविक है। आकाशवाणी के माध्यम से वह मनु को शापित करता है। काम अपनी वाणी द्वारा ही अपना रूप प्रकाश में लाता है। शाप देने की परंपरा आदिकाल से ही चली आ रही है। उसका भोग मनु को भोगना पड़ता है । काम का यह व्यापक उदात्त रूप 'कामायनी' में आदि से अंत तक प्रेक्षित हुआ है।

'कामायनी' में 'लज्जा' मन के आवेग के साथ भावात्मक पात्र के रूप में भी चित्रित है। मनु द्वारा प्रणय प्रस्ताव रखे जाने पर उसमें लज्जा भाव जाग्रत होना सर्वथा स्वाभाविक है। यहीं उसे लगता है मानो लज्जा शरीर धारण करके उसके पास चली आ रही है।

लज्जा (रति) और काम की पुत्री का नाम ही 'श्रद्धा' है। इसीलिए वह अपनी पुत्री को भावी जीवन की रूपरेखा संकेत से समझाती हुई श्रद्धा के प्रश्नों का समाधान करती है।

वस्तुतः 'कामायनी' में लज्जा विशुद्ध एवं सात्विक रूप में चित्रित हुई है। वह संस्कृति की संरक्षिका आदि रूपों में हमारे समक्ष उपस्थित होती है। लज्जा एक मनोभाव ही तो है। उसे इस रूप में कुशलतापूर्वक चित्रित करना प्रसाद जी की ही कल्पना शक्ति और प्रतिभा चातुर्य का परिणाम है। 'लज्जा' सर्ग का अध्ययन करते हुए पाठक को कहीं भी ऐसा अनुभव नहीं होता कि श्रद्धा लज्जा मनोवृत्ति से वार्तालाप कर रही है वरन् ऐसा प्रतीत होता है मानो दो नारियाँ ही परस्पर वार्तामग्न हैं। श्रद्धा एवं मनु के पुत्र मानव का 'कामायनी' में अधिक विवरण नहीं मिलता, इसी कारण यह गौण पात्रों में रखा गया है। इसकी कल्पना का आधार भी ऋग्वेद है, क्योंकि वहां पर मनु को मानवों का पिता कहा गया है और इक्ष्वाकु, शर्याति, नहुष आदि को मानव कहकर संवोधित किया गया है।

आधुनिकता में मानववाद का विस्तार है, वही परंपरागत चिंतनबोध के परिप्रेक्ष्य में श्रद्धा का यह कहना अपने पुत्र मानव के लिए भारतीय आर्ष चिंतन का, 'सर्वात्म भाव' का प्रचार है। यही ब्रह्मर्षि देवराहा का सर्वात्म दर्शन है।

इड़ा के साथ हम कुमार को भी अपनी प्रजा के साथ आनन्द-गिरि की यात्रा करते हुए देखते हैं। मनु दाँये हाथ में वृषभ की रज्जु तथा वाँये हाथ में त्रिशूल धारण किये हुए है।

समस्त प्रजा के साथ वह माता पिता की आनन्दमयी मूर्ति के दर्शन करता है। मानव के रूप में प्रसाद जी ने समरसता एवं मानवता के श्रेष्ठ प्रचारक का रूप प्रस्तुत किया है। यह मनु पुत्र होने के कारण मननशील है, श्रद्धा पुत्र होने से हृदय की उदारवृत्तियों से संपन्न है, इड़ा के साथ रहने के कारण ज्ञान विज्ञान संबंधी बौद्धिक गुणों से भी ओतप्रोत दिखलाया गया है।

इस प्रकार समरसता के लिए उपर्युक्त तीनों गुणों का समन्वय कुमार के रूप में हो गया है। साथ ही मनु के कर्मशील जीवन के कारण कर्म का, इड़ा के विज्ञानमय जीवन द्वारा ज्ञान का और श्रद्धा के प्रेममय जीवन द्वारा इच्छा का समन्वय भी मानव के रूप में प्रसाद जी ने किया है क्योंकि मानव या कुमार में तीनों प्रमुख पात्रों के गुणों का समावेश मिलता है कुमार अपने इन तीनों गुणों के समन्वित रूप से ही सारस्वत नगर को पुनः समृद्धिशाली बनाता है और सारी प्रजा को अंत में आनन्द शिखर पर भी ले जाता है। इसप्रकार यहाँ कुमार या मानव के निर्माण द्वारा समन्वय भावना, वैयक्तिकता के विपरीत सामूहिक विकास तथा सामंजस्य का ज्वलंत प्रमाण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

आकुलि किलात ये दोनों गौण पात्र हैं और दोनों असुर पुरोहित हैं। इन पुरोहितों का सर्वप्रथम वर्णन 'कामायनी' के कर्म सर्ग के अंतर्गत हुआ है। ये भी मनु और श्रद्धा की भांति जलप्लावन से बचकर इधर उधर भटकते हुए दिखलाए गए हैं इन्हें कंदमूल फल खाना पसंद नहीं। इसी समय इन्हें श्रद्धा का पालित पशु दिखायी दे जाता है। आकुलि किलात मनु को आकृष्ट करके पशु यज्ञ करते हैं तथा श्रद्धा के पालित पशु का वध करके उसका मांस भक्षण करते हैं। कामायनी में इनकी कथा लुप्त हो जाती है और फिर इन दोनों के दर्शन 'संघर्ष सर्ग' में होते हैं।

मनु के अनैतिक आचरण के कारण जनता में जो रोष फैला, उसमें सबसे बड़ा हाथ इन दोनों का ही है। इनके कारण ही सारस्वत नगर में भयंकर विप्लव, हलचल अथवा संघर्ष उठ खड़ा होता है। जब मनु जनता की इस क्रांति का सामना करने के लिए धनुष को लेकर आगे बढ़ते हैं, तब सर्वप्रथम मनु को किलाताकुलि ही दिखाई देते हैं। ललकारते हुए मनु कहते हैं कि कायरो! तुम दोनों ने ही सारा उत्पात मचाया है अरे मैंने तो तुम्हें अपना समझकर ही अपनाया था, परंतु ध्यान रखो कि यह यज्ञ नहीं रण है। इतना कहकर मनु तीर चढ़ाकर दोनों को धराशायी कर देते हैं। इस प्रकार मनु द्वारा इन दोनों की जीवनलीला यहीं समाप्त हो जाती है। प्रसाद जी के दोनों पात्र केवल आसुरी प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं, क्योंकि दोनों ही यहाँ असुर संस्कृति के अवशिष्ट अंश बतलाए गये हैं।

सारांश यह है कि 'कामायनी' में पात्रों का चारित्रिक विकास अत्यंत स्वाभाविक ढंग से दिखलाया गया है। इतना अवश्य है कि 'कामायनी' के सभी पात्र अपना दुहरा व्यक्तित्व लेकर यहां अवतीर्ण हुए हैं, क्योंकि वे ऐतिहासिक व्यक्ति होकर भी किसी न किसी मनोभाव के प्रतीक हैं जैसे मनु एक ओर तो इतिहास सम्मत सातवें मन्वन्तर के प्रवर्तक वैवस्वत मनु हैं और दूसरी ओर मन के प्रतीक हैं। इसी तरह श्रद्धा एक ओर तो इतिहास पुराणों में वर्णित मनु पत्नी है और दूसरी ओर श्रद्धा नामक मनोभाव की भी प्रतीक है। इड़ा एक ओर तो ऐतिहासिक सारस्वत प्रदेश की साम्राज्ञी है और दूसरी ओर बुद्धि या वाणी की भी प्रतीक है। इसी भांति मानव मनु पुत्र होने के कारण एक ओर तो इतिहास प्रसिद्ध सूर्यवंश का राजा इक्ष्वाकु सिद्ध होता है और दूसरी ओर वह मन तथा हृदय के समन्वित रूप का भी प्रतीक है।

इस प्रकार आकुलि-किलात भी एक ओर तो ऐतिहासिक असुर पुरोहित हैं और दूसरी ओर आसुरी प्रवृत्तियों के भी प्रतीक हैं। अतः 'कामायनी' की कथावस्तु का विकास जिन जिन पात्रों के द्वारा हुआ है वे सभी पात्र अपने दुहरे व्यक्तित्व से संपूर्ण कथा में व्याप्त हैं और प्रसाद जी को उनके चरित्र का विकास दिखलाने में दोनों ओर ध्यान देना पड़ा है। यही कारण है कि 'कामायनी' के प्रायः सभी पात्र शरीरी एवं अशरीरी दोनों रूपों को लेकर यहाँ विद्यमान हैं, किंतु प्रसाद जी ने उनका ऐसा चित्रण किया है कि अशरीरी रूप की अपेक्षा उनका शरीरी रूप अधिक मुखरित हो गया है और पाठक के हृदय पर मनोभावों के स्थान पर उनके ऐतिहासिक व्यक्तित्व की छाप अधिक पड़ती है। ●

महात्मा गाँधी का कर्मशील

- सपना शर्मा

शील सामान्य रूप से हिंदी भाषा का एक कम प्रचलित शब्द है। प्रायः इसके लिए चरित्र शब्द का प्रयोग होता है, पर शील और चरित्र में अंतर है। शील में एक आदर्श है, जिसके कारण गरिमामय चरित्र ही शील की कोटि में आ सकता है, सामान्य शील नहीं। साहित्य के संदर्भ में इसका मानक प्रयोग करने का श्रेय आचार्य रामचंद्र शुक्ल को जाता है, जिन्होंने तुलसी के रामचरितमानस के संदर्भ में मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के शील का विवेचन किया है।

'शील कार्य का व्यवहार करने का वह ढंग या प्रकार है जो या तो प्राकृतिक या स्वाभाविक हो या लोक में रहकर अर्जित किया गया हो। यह मुख्य रूप से अच्छे आचरण, व्यवहार और स्वभाव का सूचक है।' (शब्दार्थ विचार कोश-रामचंद्र वर्मा, पृ. ३५८)

मुख्य रूप से शील के दो पक्ष हैं- १. स्वभावगुणशील और २. कर्मशील। इनमें कर्मशील अधिक महत्वपूर्ण है। प्रस्तुत आलेख में गांधी जी का कर्मशील विचारणीय है।

कर्मशील : कर्मशील से तात्पर्य है कर्म से जिसका शील उद्घाटित हो। कर्मशील व्यक्ति बराबर ऐसे अच्छे कार्यों में लगा रहता है, जो अनुकरणीय हों।

महात्मा गांधी का व्यक्तित्व एक कर्मशील पुरुष का व्यक्तित्व था। कर्मशील के अंतर्गत उनके निम्नलिखित शील वैशिष्ट्य विवेचनीय हैं- १. सत्याग्रहशीलता, २. ब्रह्मचर्य एवं संयमपरकता, ३. निष्काम कर्ममयता, ४. विदेशोन्मुखता बनाम स्वदेशोन्मुखता, ५. नगरकेंद्रोमुखता बनाम ग्रामकेंद्रोन्मुखता और ६. एकाधिकारिता बनाम बहुकेन्द्रीयता।

१. सत्याग्रहशीलता : सत्याग्रह का अर्थ सत्य पर दृढ़ रहना या सत्य पर जोर देने से है। सत्याग्रह एक प्रकार से सत्य के लिए की जाने वाली तपस्या है। इसमें हिंसा नहीं है। सत्य के पुजारी का यह परम कर्तव्य है कि सत्य की कसौटी एवं उसके आधारों की रक्षा की जाए। सत्याग्रह एक आदर्श है।

महात्मा गांधी एक बहुमुखी प्रतिभा संपन्न व्यक्ति थे। वे राजनीति में आना नहीं चाहते थे, परंतु भारत की विषम परिस्थितियों एवं पराधीनता के कारण उन्हें राजनीति में कदम रखना ही पड़ा। राजनीति में उनका मुख्य अस्त्र था सत्याग्रह। गांधी जी ने सर्वोदय की साधना को सत्याग्रह तथा उसके साधक को सत्याग्रही कहा। उन्होंने सत्याग्रह को अन्याय के विरुद्ध अस्त्र बताया। सत्याग्रह का मुख्य लक्ष्य व्यक्ति और समाज के दोषों को दूर कर दोनों के बीच हितकर संबंध स्थापित करना था। अपने त्याग, तपस्या एवं कष्ट सहन के द्वारा अत्याचारी या विरोधी के हृदय में लुप्त मानवता को जगाना ही सत्याग्रही का मुख्य लक्ष्य होता है। सत्य और अहिंसा सत्याग्रह के दो प्रमुख मार्ग हैं।

"According to Gandhi ji Satyagraha has been defined as action, based on truth, love and non violence......Gandhi ji was confident that every worthy object can be achieved by Satyagraha." (गांधीज डॉक्टरीन ऑफ सिविल रेसिसटेंस-एस. ए. बरी, पृ. ५०-५१)

गांधी जी का विचार था कि सत्याग्रही को आत्मबलिदान के लिए तैयार रहना चाहिए। गांधी जी सदैव आत्मबलिदान के लिए तत्पर रहते थे। गांधी जी के सत्याग्रह के विभिन्न शस्त्रों में प्रधान शस्त्र है- असहयोग, हड़ताल, सविनय अवज्ञा, बहिष्कार तथा उपवास।

असहयोग का अर्थ है जिसके विरुद्ध सत्याग्रह किया जाता है उसके साथ सहयोग न करना। बुराई का पूर्ण रूप से असहयोग करना। असहयोग का अहिंसक होना आवश्यक है। ऐसा कोई कार्य न करना जिससे अनैतिक कार्य को प्रोत्साहन मिले। असहयोग की अभिव्यक्ति कई प्रकारों से हो सकती है। जैसे- हड़ताल, प्रदर्शन, बहिष्कार आदि।

हड़ताल के अंतर्गत विरोध स्वरूप सत्याग्रही कार्य को बंद कर देते हैं जिसका उद्देश्य सरकार को अपने पक्ष में ही प्रभावित करना होता है। हड़ताल का प्रयोग कई बार किसी कार्य के प्रति नाराजगी प्रकट करने के लिए भी किया जाता है।

सविनय अवज्ञा असहयोग की तुलना में अधिक उग्र या

अधिक सक्रिय शस्त्र है। इसका अर्थ है नैतिक कानून का उल्लंघन करना। सरकार द्वारा निर्मित कानून जिन्हें जनता अनैतिक मानती है, उन्हें न मानना या जानबूझकर तोड़ना ही सरकार की अवज्ञा है।

बहिष्कार से तात्पर्य है किसी चीज को स्वीकार नहीं करना या त्यागना। बहिष्कार सामूहिक एवं व्यक्तिगत दोनों ही तरीकों से हो सकता है। गांधी जी का मानना था कि सामाजिक बहिष्कार का उद्देश्य वहिष्कृत आदमी को चोट पहुंचाना नहीं होना चाहिए बल्कि वहिष्कार का अर्थ है कि कसूरवार आदमी के साथ समाज पूरी तरह से असहयोग कर दे। विदेशी वस्त्रों की होली जलाने पर भी विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करने पर गांधी जी के मन में विदेशियों के प्रति किसी प्रकार का द्वेष भाव न था।

सत्याग्रही का अंतिम अस्त्र उपवास है। उपवास का अर्थ होता है अपनी या दूसरे की आत्मा की शुद्धि के लिए किया गया सभी इंद्रियों का दमन। सत्याग्रही के लिए महात्मा गांधी समय समय पर उपवास का भी सुझाव देते हैं। सत्याग्रही के लिए आत्म शुद्धि, आत्म-बल, एकाग्रचित्त एवं शांति का अनमोल साधन उपवास है। इसका उस व्यक्ति पर जिसके लिए सत्याग्रह किया जा रहा है, शीघ्रगामी प्रभाव पड़ता है।

गांधी जी का मानना था कि सत्याग्रही का लक्ष्य केंद्रित, स्पष्ट एवं निश्चित होना चाहिए। सत्याग्रही को अपने विरोधियों पर प्रभाव बनाने के लिए बुराईयों को अच्छाई से, क्रोध को प्यार से, असत्य को सत्य से तथा हिंसा को अहिंसा से जीतना चाहिए। यदि सत्याग्रही को कहीं अपने दोष का ज्ञान हो जाए तो उसे स्वीकार कर शीघ्र प्रायश्चित भी कर लेना चाहिए।

"M.H. Desai says that a satyagrahi does not go on search of opportunity for Satyagraha out of ego or pride. He automatically comes across it. He faces that difficulties cheerfully. The more he suffers the more he tested. Satyagrah teaches both art of living and dying." (गांधीज डॉक्टरीन ऑफ सिविल रेसिसटेंस- एस. ए. बरी, पृ. ५९)

२. ब्रह्मचर्य और संयमपरकता : ब्रह्मचर्य का अर्थ गांधी जी ने मन वचन और शरीर से समस्त इंद्रियों के संयम के रूप में स्वीकार किया है। गांधी जी ने ब्रह्मचर्य के शब्द को उस रूप में जिसमें यह शब्द आमतौर पर प्रयुक्त होता है, प्रयुक्त नहीं किया। गांधीजी के अनुसार ब्रह्मचर्य से तात्पर्य यह नहीं कि विवाह नहीं किया जाए या यह सोचना कि ब्रह्मचारी व्यक्ति विवाहित नहीं हो सकता। ब्रह्मचर्य से उनका तात्पर्य संयम से था। यह एक तरह से विचारों, भावों, शब्दों तथा कार्यों से अभिव्यक्त की जाने वाली शक्ति पर नियंत्रण से है। विचारों पर नियंत्रण से तात्पर्य है कम शक्ति से अधिकतम कार्य।

व्यक्ति को अपनी शारीरिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक शक्ति को बढ़ाने के लिए दूसरे व्यक्ति के क्रोध को आत्मसात् करना चाहिए। यह गुण प्रत्येक व्यक्ति को उसके लक्ष्य की प्राप्ति में सहायता प्रदान करता है।

शरीर, बुद्धि और आत्मरक्षण के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक है। सामाजिक और राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य के अतिरिक्त आत्मिक विकास, आत्मदर्शन और ईश्वर के दर्शन के लिए गांधी जी ने ब्रह्मचर्य को अनिवार्य माना है। विषयों का सेवन करने से मनुष्य का पतन होता है ऐसा गांधी जी मानते थे। गांधी जी का विचार था कि व्रतबद्ध-संकल्पबद्ध जीवन को आत्मसंयम से शक्ति प्राप्त होती है। आत्मसंयम प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है। केवल ब्रह्मचर्य के लिए ही संयम आवश्यक नहीं, बल्कि प्रत्येक क्षेत्र में संयम से किया गया कार्य व्यर्थ नहीं जाता है। गांधी जी ने नियंत्रण और संयम को ब्रह्मचर्य का नाम दिया है। अपनी समस्त इंद्रियों को बाहरी-भीतरी विषय विकारों से नियंत्रित रखना ही ब्रह्मचर्य है।

गांधी जी के अनुसार, 'ब्रह्मचर्य के संपूर्ण पालन का अर्थ ब्रह्मदर्शन है, यह ज्ञान मुझे शास्त्र के द्वारा प्राप्त हुआ। यह अर्थ मेरे सामने शनैः शनैः अनुभव सिद्ध होता गया। तत्संबंधी शास्त्र वाक्य मैंने बाद में पढ़े। ब्रह्मचर्य में शरीर रक्षण, बुद्धि रक्षण और आत्मरक्षण है।' (मोहनदास कर्मचन्द गाँधी, सत्य के प्रयोग, पृ. २०१)

संयम एक प्रकार से आत्मानुशासन है। सदाचार में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। संयम से मनुष्य अपने विचारों को नियंत्रण में करता है। बराबर हृदय को शुद्ध करने के लिए संयम की आवश्यकता होती है। इसके द्वारा मनुष्य ईर्ष्या और द्वेष से बच सकता है। संयम आत्मस्वतंत्रता के मार्ग की पहली

सीढ़ी है।

वास्तविक स्वतंत्रता उसे ही प्राप्त होती है जो किसी बाहरी नियंत्रण से मुक्त हो। गांधी जी के अनुसार, 'विकारी मन शरीर और इंद्रियों पर कावू पाने के बजाए उनके वश में होकर काम करता है। इसके लिए शरीर को शुद्ध और कम से कम विकार उत्पन्न करने वाले आहार की मर्यादा तथा उपवास की आवश्यकता होती है।' (मोहनदास कर्मचन्द गाँधी, सत्य के प्रयोग, पृ. ३११)

गांधी जी का मानना था कि मन को संयम में रखने के लिए निराहार बहुत मददगार है। उपवास रखने से भी व्यक्ति में संयम का भाव जाग्रत होता है। संयम ब्रह्मचर्य के लिए अति आवश्यक साधना है।

३. निष्काम कर्ममयता : गांधी जी ने अपना संपूर्ण जीवन गीता के कर्मयोग सिद्धांत को सामने रखकर व्यतीत किया। उनका मानना था कि ईश्वर शरीर से कभी दिखाई नहीं देता है, परंतु वह कर्म में दर्शन देता है। महान कार्यों के लिए महान उपायों की आवश्कता होती है।

श्रीमद्भगवदगीता के अनुसार अपने काम को फल की कामना के विना निष्काम भाव से करना चाहिए। यही मोक्ष प्राप्ति का द्वार है। गांधी जी को पुनर्जन्म तथा कर्मवाद दोनों में पूर्ण विश्वास था। मनुष्य की प्रवृत्ति एवं व्यवहार उसके अतीत के कर्मों एवं व्यवहार पर निर्भर करता है। इसीलिए प्रत्येक आदमी की मानसिकता में उसकी पूर्वजन्म की छाप अवश्य होती है।

गांधी जी का विश्वास था कि सत्याग्रह कर्म की व्याख्या है। सत्य के लिए आग्रह है। सत्य की प्राप्ति की ओर बढ़ना है। गांधी जी कर्मठ व्यक्ति थे। गांधी जी का काम ईश्वर का काम था यानि आत्मशुद्धि का काम।

गांधी जी का विचार था कि कर्म सत्य से प्रेरित होना चाहिए तथा इसके साथ अहिंसा रूपी साधन का होना भी आवश्यक है। गांधी जी के विचार में कोई भी काम छोटा या बड़ा नहीं होता है।

गांधी जी की मान्यता थी कि आत्मा कभी नहीं मरती। शरीर की मृत्यु हो जाने के बाद आत्मा पुनर्जन्म लेती है। व्यक्ति अपने किए हुए कर्मों से कभी नहीं वच सकता है। यदि वह बुरे कर्म करता है तो उसे उसका फल भोगना ही पड़ता हैं। अच्छे कर्म ही मनुष्य को इस जन्म तथा अगले जन्म में कल्याण के मार्ग की ओर प्रशस्त करते हैं। इस प्रकार मनुष्य अच्छे कर्मों द्वारा अपना उद्धार करता है और बुरे कर्मों द्वारा अपना अहित करता है।

कर्म का सिद्धांत स्वतंत्रता का सिद्धांत है जो हमें अच्छे और बुरे चुनाव की स्वतंत्रता प्रदान करता है। हमारी आजादी हमारे प्रयत्नों पर निर्भर करती है।

'गांधी जी ने निष्काम कर्म का उपदेश दिया है। जव व्यक्ति परिणाम में उलझता है तो कर्तव्य से विमुख हो जाता है।.... श्रेष्ठ कर्म वही है जो बंधनमुक्त होकर किया जाए।' (रामलाल विवेक, महात्मा गाँधी जीवन और दर्शन, पृ. ११५)

गांधी जी कर्मनिष्ठ व्यक्ति थे। उनकी दृष्टि में कोई काम छोटा या बड़ा नहीं होता। व्यक्ति को प्रत्येक काम लगन के साथ सत्य के मार्ग पर चलते हुए करना चाहिए। कार्य के संबंध में उनका विचार था कि सभी कार्य समाज की सेवा के लिए होते हैं। कोई भी कार्य उच्च या नीच नहीं होता। उनकी दृष्टि में वकील के कार्य एवं नाई के कार्य में कोई अंतर नहीं है। प्रत्येक मनुष्य को अपने काम को जो भी उसे मिला है, पूरी निष्ठा एवं सेवा की भावना से करना चाहिए।

गांधी जी दिन रात काम करते थे और जब उन्हें फुरसत मिलती तो वे चरखा कातने लग जाते थे। यही चरखा उनकी कर्मठता का प्रतीक है।

५. विदेशोन्मुखता बनाम स्वदेशोन्मुखता : गांधी जी ने देश की आर्थिक स्थिति मजबूत करने के लिए स्वदेशी वस्तुओं के उत्पादन एवं प्रयोग पर बल दिया। गांधी जी भारत देश को आत्मनिर्भर बनाना चाहते थे। इसके लिए उनका प्रयत्न था कि प्रत्येक व्यक्ति अपना काम स्वयं करे, कोई किसी पर निर्भर न हो। विदेशों में बनी वस्तुओं का उपभोग न किया जाए। गांधी जी के अनुसार खादी एवं चरखा स्वावलंबन का प्रतीक है। गांधी जी के शब्दों में 'खादी हिंदोस्तान की समस्त जनता की एकता है, उसकी आर्थिक स्वतंत्रता और समानता की प्रतीक है।' (टी. जी. प्रभाशंकर प्रेमी, आधुनिक हिंदी कविता में गाँधीवाद का प्रभाव, पृ. ५६)

गांधी जी ने बड़े उद्योगों की अपेक्षा छोटे उद्योगों, लघु कुटीर उद्योगों एवं ग्रामोद्योग को ही प्रधानता दी। गांधी जी ने खाली समय में उत्पादन के साधन के रूप में चरखा चलाने को

कहा। चरखा चलाने में भी आसान है। अंग्रेजों के राज्यकाल में हस्त व्यवसाय की मंदी के कारण सैंकड़ों कारीगरों पर भुखमरी की नौबत आ गयी थी, अतएव ग्रामोद्योग का पुनरुत्थान ही देहाती बेरोजगारी और निर्धनता को नष्ट करने का असली मार्ग था, जिसे गांधी जी ने अपनाया। रोटी के साथ साथ वस्त्र की भी आवश्यकता होने के कारण उन्होंने सूत कताई और बुनाई के कार्यों को भी प्रोत्साहन दिया। चरखे को ग्रामोद्योगों का केंद्रविंदु मानकर उसकी परिधि में कागज, साबुन तेल आदि उद्योगों को भी जोड़ दिया।

आर्थिक क्षेत्र में स्वदेशी का तात्पर्य स्वावलंवन से है। प्रत्येक ग्राम अपनी जरूरतों की पूर्ति के लिए स्वावलंबी हो। हम जहाँ तक हो सके अपने देश की बनी वस्तुओं का उपयोग करें। जिससे स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग को बढ़ावा मिले। स्वदेशी सिद्धांत की मांग थी कि हम विदेशी वस्त्रों का उपयोग न करें क्योंकि अपने देश में ही हम वस्त्रों का पर्याप्त उत्पादन कर लेते हैं। खादी एवं ग्रामोद्योग का विकास स्वदेशी सिद्धांत की आत्मा है जिससे प्रत्येक व्यक्ति को आजीविका कमाने का अवसर उपलब्ध हो सकता है।

गांधी जी का स्वदेशी सिद्धांत के पीछे लक्ष्य स्वावलंवी देश की कल्पना थी। स्वदेशी यद्यपि प्रत्येक विदेशी वस्तु के वहिष्कार से संबंधित है, परंतु फिर भी इसे संकीर्ण धारणा नहीं माना जा सकता।

स्वदेशी सिद्धांत के पीछे ग्रामोद्योग के विकास एवं अंग्रेजों के काल में लुप्त हस्त व्यवसाय को प्रोत्साहन देना।

गांधी जी के स्वदेशी सिद्धांत ने जहाँ विदेशी चीजों का वहिष्कार किया, वही स्वदेशी चीजों के प्रति लोगों के मोह को जगाया। कुटीर उद्योगों के विकास पर बल दिया, जिससे बढ़ती बेरोजगारी पर काबू पाया जा सके। कुटीर उद्योग में सूत कातना, कपड़ा बुनना, लोहे के सामान बनाना, मिट्टी के बर्तन बनाना, जूते आदि बनाना ऐसे कार्य जिन्हें गांव में गरीब से गरीब व्यक्ति आसानी से कर सके जिसने आर्थिक आधार मजबूत होने पर बल दिया। गांधी जी के स्वदेशी सिद्धांत ने जहां एक ओर बेरोजगारी को कम किया, वहीं दूसरी ओर अंगेजों से असहयोग करके आजादी की दिशा की ओर नया कदम रखा।

५. नगरकेन्द्रोन्मुखता बनाम ग्रामकेन्द्रोन्मुखता : गांधी जी का मानना था कि भारत की आत्मा ग्रामों में निवास करती है। नगरों के आडंबरपूर्ण जीवन की अपेक्षा गांधी जी को ग्रामों का सीधा सादा जीवन अधिक भाता था। इसीलिए गांधी जी ने ग्रामों को केंद्र मानकर ग्रामों में अनेक सुधार किए। गांधी जी ने सफाई अभियान चलाया। अस्पृश्यता एवं सांप्रदायिकता का विरोध किया।

गांधी जी भारत को ग्रामों के समूह के रूप में देखना चाहते थे। ग्रामों को आत्मनिर्भर बनाने के लिए उन्होंने ग्रामोद्योगों की स्थापना की, लघु कुटीर उद्योगों पर बल दिया। गांधी जी चाहते थे कि व्यक्ति अपनी प्रतिदिन की जरूरत को ग्रामों की बनी वस्तुओं से तृप्त कर ले।

गांधी जी ऐसे आदर्श ग्रामों की स्थापना करना चाहते थे, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति आत्मनिर्भर हो। गांधी जी ग्रामों को प्रमुख इकाई बनाना चाहते थे। इन ग्रामों की कार्य प्रणाली की देखरेख पंचायतों के हाथ में होगी। पंचों की नियुक्ति अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति द्वारा होनी चाहिए।

ग्रामीण प्रजातंत्र में अर्थव्यवस्था स्वदेशी सिद्धांत पर आधारित होगी। ग्राम्य गणतंत्र में कार्य सहकारिता के आधार पर किया जाएगा। ग्राम में सभी व्यक्तियों के लिए प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य होगी तथा जाति पाँति आदि के आधार पर किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाएगा। आदर्श ग्राम में सभी को समान अधिकार प्राप्त होंगे। सभी लोगों को धार्मिक स्वतंत्रता भी प्राप्त होगी। ऐसा आदर्श ग्राम जहाँ सभी को समान राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त होगी।

गांधी जी के आदर्श ग्राम का वर्णन करते हुए एस. एच. पाटिल लिखते हैं-

"The Gandhian idea of village swaraj is completely republic is to be managed by a panchayat of five person who are to be annually elected by the adult male and female voters.......village republic is a perfect democracy based on individual freedom." (एस. एच. पाटिल, गाँधी एण्ड स्वराज, पृ. ११३)

गांधी जी आदर्श ग्रामों की स्थापना करना चाहते थे, जहां शासक प्रजा के कार्यों में कम हस्तक्षेप करे। गांधी जी बेरोजगारी का उन्मूलन करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने

स्वदेशी सिद्धांत पर बल देते हुए प्रत्येक व्यक्ति को चरखा एवं खादी जैसे ग्रामोद्योग को अपनाने के लिए कहा।

"According to Mahatma Gandhi Khadi mentality means decentralization of production and distribution of necessaries of life." (श्रीमन् नारायण, इण्डिया नीडस गाँधी, पृ. ३)

गांधी जी के सुधार एवं स्थापना का मुख्य केंद्र ग्राम थे। गांधी जी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक समानता के आधार पर आदर्श ग्रामों की नींव रखना चाहते थे।

६. एकाधिकारिता बनाम बहुकेन्द्रीयता : महात्मा गांधी प्रशासकीय विभाग की कार्य प्रणाली को भी विकेंद्रीयकृत देखना चाहते थे। गांधी जी शक्तिशाली राज्य तथा एकात्मक राज्य के विरुद्ध थे। उनकी शासन व्यवस्था का आधार गांव थे। वे आत्मनिर्भर ग्रामों की स्थापना करना चाहते थे। उनके अनुसार ग्राम आर्थिक और राजनीतिक इकाई होंगे।

भारत के गणतंत्र की कामना वे ग्रामों के समूह के रूप में करते थे। गांधी जी अपनी भारतीय परंपरा के द्वारा निर्धारित कर्तव्य व्यवस्था के समर्थक थे। गांधी जी की छोटी इकाई (ग्राम) के प्रति निष्ठा अधिक थी।

गांधी जी चाहते थे ग्रामों की कार्य प्रणाली पंचायतों द्वारा चलायी जाय। पंचों का चुनाव अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति के आधार पर हो। गांधी जी अप्रत्यक्ष चुनाव पद्धति के समर्थक थे। उन्होंने अप्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर ही कांग्रेस पार्टी के संगठन को बनाया था। गांधी जी का मानना था कि इस शासन व्यवस्था में शक्ति एवं हिंसा का प्रयोग न्यूनतम होगा। गांधी जी का विचार था, 'पंचायती राज्य की स्थापना होने पर जनमत वह करिश्मा दिखा सकेगा जो हिंसा के वस की बात नहीं। जब तक आम लोगों को अपनी क्षमता और सामर्थ्य का एहसास नहीं होगा, तब तक जमींदार पूंजीपति और रियासतकारों का ही आधिपत्य रहेगा। जनता यदि पूंजीपति और जमींदारी जैसे अशिव के साथ असहयोग करे तो स्थिति बदल सकती है।' (नलिनी पण्डित, गाँधी, पृ. २५३)

गांधी जी का विश्वास था कि आज का युग विकेंद्रीयकरण या बहुकेंद्रीयकता की मांग करता है। केंद्रीयकरण या राष्ट्रीयकरण में अनेक बुराईयां है। राष्ट्रीयकरण से मजदूरों एवं किसानों के हाथ से सत्ता प्रबंधकों के हाथ में चली जाती है। महात्मा गांधी कारखानों पर केंद्रित या आधारित सत्ता नहीं, मजदूरों एवं कारीगरों की सम्मिलित और सहकारी सत्ता चाहते थे। वे केवल महत्वपूर्ण उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में थे।

गांधी जी का मानना था कि हिंसा केंद्रीयकरण की और अहिंसा विकेंद्रीयकरण की ओर ले जाती है। इसीलिए गांधी जी ने सत्ता के विकेंद्रीयकरण की ओर जोर दिया। गांधी जी राज्य की प्रभुसत्ता के सिद्धांत के विरोधी थे। गांधी जी का मानना था कि राज्य के एक संस्था की तरह ही सीमित अधिकार होने चाहिए।

विदेशी शासन को समाप्त करने के साथ साथ गांधी जी देश में सभी प्रकार के शोषण से मुक्त लोकतंत्रीय व्यवस्था की स्थापना करना चाहते थे।

महात्मा गांधी अप्रत्यक्ष प्रतिनिधि प्रणाली के पक्ष में थे, किंतु उनकी प्रतिनिधि प्रणाली का दूसरा ही स्वरूप था। उनके अनुसार, 'भारत की ग्राम जनता अपने आपको अपनी इच्छा के अनुसार संगठित करेगी। ये ग्राम मिलकर जिलों की शासन व्यवस्था का प्रबंध करेंगे जिलों के द्वारा प्रांतों के प्रशासन का चयन होगा। अंत में प्रांतों द्वारा राष्ट्रीय सरकार का संगठन एवं चयन किया जाएगा। प्रत्येक इकाई का अपना महत्व होगा। सबसे पहले वे अपने शासन का प्रबंध करेंगे और साथ साथ अगली सीढ़ी वाले क्षेत्र के प्रशासन में भी योगदान देंगे।' (रामलाल विवेक, महात्मा गाँधी जीवन और दर्शन, पृ. १२२)

गांधी जी आर्थिक क्षेत्र में भी विकेंद्रीयकरण के द्वारा अपनी आवश्यकताओं को सीमित करके एक अहिंसक व्यवस्था कायम करना चाहते थे। गांधी जी लघु कुटीर ग्रामोद्योगों के पक्ष में थे। गांधी जी वर्तमान की मांग बहुकेंद्रीयकता के पक्ष में थे।

निष्कर्षतः गांधी जी का शील प्रादर्शशील है। गांधीजी का कर्मशील प्रभविष्णु एवं अनुकरणीय है। इस कर्मशील के आधार पर उन्होंने देश को स्वतंत्र कराया। महात्मा गांधी के कर्मशील में सत्याग्रहशीलता राजनीतिक संदर्भ से संबंधित है, ब्रह्मचर्य एवं संयमपरकता तथा निष्काम कर्ममयता सामाजिक संदर्भ से संबंधित है, स्वदेशोन्मुखता, ग्रामकेंद्रोन्मुखता तथा बहुकेंद्रीयता आर्थिक संदर्भ से संबंधित हैं।

समकालीन नेताओं में कर्मशील का अत्यंत प्रभाव है। महात्मा गांधी का कर्मशील अभिप्रेरक है। आज के नेता संकल्पनिष्ठ होकर उनका अनुकरण कर सकते हैं। महात्मा गांधी का शील जहां अतीत को प्रभावित करने वाला है, वहीं भविष्य के लिए प्रेरणादायी है। ●

आचार्य परंपरा के सशक्त स्तम्भ

- डॉ. छविनाथ पाण्डेय

मातृभाषा हिंदी के प्रचार प्रसार तथा उन्नयन के लिए आसेतु हिमालय नागरीप्रचारिणी सभा, हिंदी साहित्य संमेलन, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति जैसे मंचों से राष्ट्रीय स्तर पर रचनात्मक तथा सक्रिय भूमिका निभाने के साथ ही हिंदी की अनेक विधाओं और विभिन्न विषयों पर अपार साहित्य रचना करने वाले आचार्य पं. सीताराम चतुर्वेदी ने अपने सक्रिय जीवन के ९८ वर्ष पूर्ण कर ९९वें वर्ष में प्रवेश किया है। आचार्य शुक्ल, आचार्य केशवप्रसाद मिश्र की पीढ़ी के बाद की पीढ़ी आचार्य चतुर्वेदी, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की रही। इस कड़ी के अंतिम आचार्य चतुर्वेदी हैं।

२७ जनवरी १९०७ में काशी के वैदिक विद्वान स्व. भीमसेन वेदपाठी के प्रथम सुपुत्र के रूप में जन्मे आचार्य चतुर्वेदी की प्रारंभिक शिक्षा उत्तर प्रदेश के मुजफ्फरनगर जनपद में हुई। उच्चशिक्षा काशी हिंदू विश्वविद्यालय में प्राप्त की। संस्कृत, हिंदी, पालि, प्राचीन भारतीय इतिहास तथा संस्कृति, चार विषयों में एम. ए. की उपाधि लेने के साथ ही एल. एल. बी. तथा बी.टी. की उपाधि उन्होंने काशी हिंदू विश्वविद्यालय से ली। तत्कालीन देश के प्रतिष्ठित शिक्षा संस्थान सेंट्रल हिंदू स्कूल में अध्यापन के वाद १९३४ में काशी हिंदू विश्वविद्यालय के टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज में प्रवक्ता के पद पर रहे। भारतीय विद्या भवन मुंबई तथा बलिया के टाउन डिग्री कॉलेज तथा सतीश चंद्र महाविद्यालय के प्राचार्य पद पर भी रहे।

लगभग १९७० में टाउन डिग्री कालेज से पदत्याग करने के बाद आचार्य जी अपने पैतृक आवास मुजफ्फरनगर में वानप्रस्थ आश्रम में लीन हो गये। इस बीच काशी तथा कुछ अन्य नगरों में यात्रा तो की लेकिन अलंकरण, सम्मान, समारोह, पुरस्कार सभी से वैराग्य ले लिया। हिंदी साहित्य संमेलन तथा दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय से उन्हें मानद उपाधि तथा उत्तर प्रदेश राज्य हिंदी संस्थान द्वारा पुरस्कृत किया गया लेकिन किसी समारोह में उन्होंने भाग नहीं लिया।

लगभग चार दशक तक जबतक वे काशी में रहे नगर के सांस्कृतिक जीवन पर छाये रहे। काशी हिंदू विश्वविद्यालय के छात्र जीवन से लेकर १९५० तक काशी में नाटकों के मंचन की एक नियमित परंपरा उन्होंने बनायी। जयशंकर 'प्रसाद' रचित चंद्रगुप्त नाटक के प्रथम मंचन संभवतः १९३३ में उन्होंने नाटक में राक्षस की भूमिका की थी। अपने सभी नाटकों में मुख्य भूमिका के साथ ही संगीत मंच सज्जा आदि का पूरा संचालन वे स्वयं करते। विक्रम संवत् की सहस्राब्दि पर काशी में महाकवि कालिदास नाटक में कालिदास की भूमिका अविस्मरणीय कही जा सकती है। इस अवसर पर स्थापित अखिल भारतीय विक्रम परिषद के सभी नाटकों में नगर के सभी साहित्यकारों स्व. बेढब बनारसी, आचार्य करुणापति त्रिपाठी, शिवप्रसाद मिश्र रुद्र, इन्द्रशंकर मिश्र, राधाविनोद गोस्वामी, बेधड़क बनारसी आदि अनेक ने भूमिकाएं कीं। फिल्म अभिनेता पृथ्वीराज कपूर के पृथ्वी थियेटर्स के मंच पर भी कालिदास नाटक खेला गया जिसमें मंच पर काशी के इन साहित्यकारों ने अभिनय किया था।

मुंबई में जय सोमनाथ, देवता तथा गौतम बुद्ध नृत्य नाटिका का आचार्य चतुर्वेदी के निर्देशन में सफल मंचन हुआ। वाराणसी, बलिया, लखनऊ तथा अनेक नगरों में आचार्य चतुर्वेदी के नाटकों को लगातार मंचित किया जाता रहा है।

जबसे कवि सम्मेलनों का दौर शुरू हुआ आचार्य चतुर्वेदी का कवि संमेलन के मंचों पर आकर्षण रहा है। बाद में आचार्य चतुर्वेदी की अध्यक्षता में पूर्वी उत्तर प्रदेश के साथ ही देश के विभिन्न भागों में ऐतिहासिक कवि संमेलन हुए। एक रोचक तथ्य यह भी है कि हरिवंशलाल बच्चन, मोती बी.ए, रुद्र काशिकेय, बेधड़क बनारसी आदि अनेक स्वनामधन्य कवि टीचर्स ट्रेनिंग कालेज में उनके छात्र रहे हैं।

अभिनव नाट्यशास्त्र, भारतीय और पाश्चात्य रंगमंच, समीक्षाशास्त्र, वाग्विज्ञान जैसे विराट ग्रंथों की रचना के साथ ही महाकवि कालिदास, गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास की संपूर्ण कृतियों का टीका सहित संपादन हिंदी के प्रति उनकी अनन्य

सेवा है। आचार्य चतुर्वेदी का मौलिक साहित्य भी कम विशाल नहीं। नाटक, कथा, काव्य सभी विधाओं में उन्होंने विपुल साहित्य दिया।

वे अपनी मनस्विता के कारण साहित्यिक गुटबंदियों तथा दरबारी संस्कृति से सदा से दूर रहे। न तो उन्होंने प्रकाशकों की कभी याचना की और न पुरस्कार तथा अलंकरण के लिये सत्ता के दलालों के पीछे दुम हिलायी। विषम परिस्थितियों में भी कभी वे झुके नहीं। मुजफ्फरनगर में निवास के दौर में उनके पैड पर शीर्ष की पंक्तियां हैं- न दैन्यं न पलायनम्। यही उनके संपूर्ण जीवन का सूत्र वाक्य भी रहा। कभी किसी के आगे किसी भी कार्य के लिये उन्होंने हाथ नहीं पसारा।

लखनऊ के एक आयोजन में विक्रमादित्य नाटक हो रहा था। मुख्य अतिथि मुख्यमंत्री संपूर्णानंद थे। किसी ने आचार्य चतुर्वेदी से कहा कि ऐसा न हो कि अखबारवाले टीका करें। छूटते ही उन्होंने कहा जिसकी कीमत आठ आने और जिंदगी चौबीस घंटे की हो उसकी मैं परवाह नहीं करता।

वे अत्यंत शांतिप्रिय, मस्त तथा अपनी मौज में रहते हैं। दुःख, चिंता, क्षोभ कभी हावी नहीं हो सका। अत्यंत उदार, अतिथि सत्कार के लिए आतुर तथा संयमित और स्वास्थ्यकर आहार उन्हें प्रिय है। अपने संपूर्ण जीवन में कभी उन्होंने चाय भी नहीं पी। गऊसेवा आज भी उन्हें प्रिय है। महामना पं. मदनमोहन मालवीय जैसे देवतुल्य व्यक्तित्व के सानिध्य में आचार्य चतुर्वेदी के जीवन का काफी हिस्सा व्यतीत हुआ। यही कारण है कि महामना के अनेक सद्‌गुण उन्हें सहज ही प्राप्त हुए।

इस वय में भी नियमित सन्ध्यावन्दन, तर्पण आदि के बाद लेखन उनकी दिनचर्या है। स्वयं लिखने में असमर्थ होने के कारण बोलकर लेखन कराते हैं। विगत दस वर्षों में शास्त्रों विशेष रूप से योग, तंत्र तथा वेद वेदांग आदि पर उनका कार्य चल रहा है। ●

इस अंक के रचनाकार

पं. सुधाकर पांडेय	-	पूर्व प्रधानमंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र	-	भारतेंदु भवन, चौखम्भा, वाराणसी
डॉ. दीनानाथ शरण	-	दरियापुर गोला, बांकीपुर, पटना-८०००४
डॉ. सुरेंद्र वर्मा	-	१०, एच. आई. जी./१-सर्कुलर रोड, इलाहाबाद-१
तुंगनाथ चतुर्वेदी	-	बी ७/६१/२ सफदरजंग एन्क्लेव, नई दिल्ली
डॉ. रविकुमार 'अनु'	-	रीडर हिंदी विभाग, पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला, पंजाब
डॉ. चेतना सिंह	-	चंद्रशेखर हाउस, बेगपुर, अलीगढ़, उ. प्र.
सुश्री सपना शर्मा	-	१७ बी, मजीठा रोड, भंडारी अस्पताल के सामने, अमृतसर, पंजाब-१४३००१
डॉ. छविनाथ पाण्डेय	-	वाराणसी
डॉ. उत्तमकुमार शुक्ल	-	३३७/बी, डी. एल. डब्ल्यू, वाराणसी-४
डॉ. सुरेंद्र तिवारी	-	प्रवक्ता हिंदी, हिंदू डिग्री कॉलेज, जमानिया, गाजीपुर
डॉ. विशु मेघनानी	-	डी ३२/६५, पातालेश्वर, बंगाली टोला, वाराणसी-१
डॉ. मोहनलाल तिवारी	-	डी ५२/३६, लक्ष्मीकुंड, वाराणसी
डॉ. रमेश कुमार त्रिपाठी	-	कबीरनगर, वाराणसी

राष्ट्रीय एकता के संदर्भ में राष्ट्रभाषा हिंदी का महत्व

- डॉ. उत्तम कुमार शुक्ल

हमारे देश में एक राष्ट्रगीत और एक राष्ट्रभाषा का होना भी परमावश्यक है। भारतीय संस्कृति की वाणी संस्कृत की मुख्य उत्तराधिकारिणी और देश में सर्वाधिक वोली और समझी जाने वाली भाषा के रूप में हिंदी स्वयमेव राष्ट्रभाषा है। हिंदी का विगत एक हजार वर्ष का विकासशील इतिहास, उसके माध्यम से राष्ट्रीय एकता तथा भावनात्मक समन्वयीकरण की गाथा को मूर्त स्वरूप देता है। वँगला के उपन्यासकार विमल मित्र का अभिमत है कि हिंदी समस्त देश को एकता के सूत्र में वांध नेवाली भाषा है, इसलिए इसका राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित होना उचित है।

भारत की भाषाओं में पूरे भारत को एकता के सूत्र में वांधने की दृष्टि से एक विशाल स्वतंत्र तथा स्वाभिमानी राष्ट्र की संपर्क की भाषा होने की सारी मान्यताएं केवल हिंदी में ही हैं। चेकोस्लोवाकिया के प्रो. ओडोलन स्मेकल ने कहा है कि संस्कृतनिष्ठ हिंदी ही एक ऐसी आधुनिक भाषा है जो प्राचीन भारतीय सभ्यता की महिमा का प्रतिविंव प्रस्तुत कर सकती है और इस देश की आत्मा को समझने में पूर्ण सहायता देती है। हिंदी अपने जन्मकाल से ही राष्ट्रीय एकात्मकता की पोषक रही है। 'हिंदी', 'हिंदवी' और 'हिंदुई' का संवंध 'हिंदी' शव्द से है, जिसका साधारणतया दो प्रचलित अर्थों में प्रयोग किया जाता है- एक तो 'हिंदुस्तान का निवासी' और दूसरा 'हिंदुस्तान की भाषा'। ईसा की छठीं शताव्दी से कुछ पहले ईरान के वादशाह नोशेरवाँ (५३१-५७९ ई.) ने 'हिंदी' शव्द का प्रयोग 'हिंद' (भारत) के लिए किया था।

भारत पर इस्लामी राज्य के आरंभ से केवल ६१ वर्ष वाद भारत ने उस मुसलमान को जन्म दिया था, जो हिंदुस्तान के राष्ट्रवादी मुसलमानों का अग्रणी महापुरुष था और जिसे हम अमीर खुसरो कहते हैं। खुसरो हिंदी के प्रारंभिक कवियों में हैं जो लिखते हैं- संभव है कोई मुझसे पूछे कि भारत के प्रति मैं इतनी श्रद्धा क्यों रखता हूँ। मेरा उत्तर यह है कि केवल इसलिए कि भारत मेरी जन्मभूमि है, भारत मेरा अपना देश है। खुद नवी ने कहा है कि अपने देश का प्रेम आदमी के धर्म-प्रेम में सम्मिलित होता है। हिंदी के मुसलमान कवियों की संख्या काफी वड़ी है और हिंदी वालों को उन पर नाज भी कम नहीं है। उन्होंने यह सिद्ध किया कि हिंदू-मुस्लिम एकता का मार्ग और कोई नहीं, भारत की राष्ट्रीयता का मार्ग है। भारत की राष्ट्रीयता की आवश्यकता की अनुभूति सवसे पहले अमीर खुसरो को हुई तत्पश्चात् कवीर, जायसी, कुतुवन, मंझन, उस्मान, अव्दुर्रहीम खानखाना, ताज, रसखान आदि ने इस मार्ग को प्रशस्त किया। रज्जव जी ने हिंदी के द्वारा सांप्रदायिक सद्भाव तथा राष्ट्रीय सौमनस्य के संवर्द्धन में विशेष योगदान दिया।

हिंदी के समस्त संत एवं भक्त कवियों ने समूचे देश को एक सूत्र में वांधा। उन्होंने कन्याकुमारी के पुनीत जल से कश्मीर का अभिषेक किया। व्रह्मपुत्र का नीर द्वारकापुरी की पीर की कहानी कहने लगा। महाराष्ट्र के पांचों संतों ने न केवल उत्तर भारत की यात्रा करके देश की एकरूपता को स्थापित किया अपितु उन्होंने हिंदी में अपने पद लिखकर उसे देश की सार्वभौमिक भाषा भी स्वीकार किया। संत नामदेव के पद तो सिक्ख धर्म की पवित्र पुस्तक 'गुरु ग्रंथ साहव' में संकलित किये गये। सिक्ख धर्म के दसों गुरुओं ने हिंदी में भजन लिखे। दशमेश गुरु गोविंदसिंह ने 'रामावतार' लिखकर वाल्मीकि और तुलसी की परंपरा को सांस्कृतिक समृद्धि दी। वंग कवि गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर हिंदी के वैष्णव कवि सूरदास का स्तवन करके रामकृष्ण परमहंस की धरती को महाप्रभु वल्लभाचार्य की लीलाभूमि से संपृक्त करते हैं।

भारत के इतिहास में उन्नीसवीं शताव्दी के सांस्कृतिक पुनर्जागरण ने भी हिंदी को परिपुष्ट किया। व्रह्मसमाज, प्रार्थना समाज, देव समाज, थियोसॉफिकल सोसायटी, राधास्वामी संप्रदाय, आर्य समाज, आजाद हिंद, सनातन धर्म समाज आदि ने हिंदी के प्रश्न को आगे वढ़ाया। राजा राममोहन राय, सुभाषचंद्र वोस, नवीनचंद्र राय, स्वामी विवेकानंद, भवानीदयाल संन्यासी और न्यायमूर्ति शारदाचरण मित्र ने हिंदी को राष्ट्रभाषा की संज्ञा दी। वंगाल के केशवचंद्र सेन ने गुजरात के महर्षि दयानंद सरस्वती को कलकत्ता में हिंदी में प्रवचन करने की सलाह दी थी। दयानंद ने गुजराती होते हुए भी हिंदी को आर्यभाषा कहा और अपना मुख्य ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' हिंदी में ही लिखा। थियोसॉफिकल सोसायटी के अनुरोध पर ही दयानंद ने हिंदी में अपनी आत्मकथा लिखी।

हमारे देश में अधिकांशतया भारोपीय परिवार की भाषाएं वोली जाती हैं। इस दृष्टि से अन्य क्षेत्रीय भाषाएं हिंदी की भगिनी हैं। हिंदी में अस्सी प्रतिशत तत्सम शव्द हैं। इस आधार पर दक्षिण की चार भाषाओं अर्थात् तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम के साथ हिंदी की समरसता हो जाती है क्योंकि ये भाषाएं संस्कृत वहुल हैं। आजकल हिंदी में तमिल, तेलुगु, कन्नड़

और मलयालम से अनेक अनूदित ग्रंथ आ रहे हैं, जिनसे भावात्मक ऐक्य की श्रीवृद्धि हो रही है। आज सिनेमा के कारण, हिंदी समूचे राष्ट्र में भलीभांति समझी जा रही है। संतों, व्यापारियों और धार्मिक यात्रियों ने हिंदी को देश की अखंडता तथा गरिमा के साथ प्रतिबद्ध किया है। राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन ने हिंदी को राष्ट्रीयता का अंग स्वीकार किया था। तमिल के महाकवि भारती ने कहा था कि भारत माता अठारह भाषाएं वोलने वाली होने पर भी एक चिंतन रखने वाली हैं।

हिंदी के साथ भारतीयता एवं राष्ट्रीय संस्कृति की प्रतिबद्धता है। भारत सरकार द्वारा समय समय पर स्थापित विभिन्न शिक्षा आयोगों यथा राधाकृष्णन आयोग, मुदालियर आयोग, भाषा आयोग, त्रिभाषा सूत्र और कोठारी आयोग ने भी हिंदी की राष्ट्रीय महिमा को रेखांकित किया है। आज हिंदी हमारी राष्ट्रभाषा एवं राजभाषा है। वह राष्ट्रीय साहित्य से संवंधित है। वह सामाजिक जीवन में उपादेय है। वह सांस्कृतिक विचारधारा की प्रतिनिधि है। देश की राष्ट्रीय एकात्मकता को जोड़ने तथा चरितार्थ करने वाले चारों दिशाओं के हमारे धाम या तीर्थ स्थान की वह प्रचलित, सर्वस्वीकृत तथा सर्वव्यवहृत भाषा है। वह तकनीकी तथा प्राविधिक वाङ्मय तथा शब्दावली से आपूर्ण है। कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने ठीक ही कहा था कि हिंदी ही हमारे राष्ट्रीय एकीकरण का सवसे शक्तिशाली और प्रधान माध्यम है। यह किसी प्रदेश या क्षेत्र की भाषा नहीं है, वल्कि समस्त भारत की भारती के रूप में ग्रहण की जानी चाहिए।

हिंदी शब्द भारत तथा हिंदुस्तान का समानार्थक पहले है और भाषा की स्थिति के रूप में वह वाद में है। हिंदी को संस्कृति मानने का तात्पर्य हिंदू नहीं है। हिंदी एक व्यापक अर्थवोधक शब्द है जो इस भूमि के मानवजीवन के संस्कारों, परंपराओं एवं मूल्यों को धरोहर के रूप में सुरक्षित वनाये हुए है। वंगला देश के प्रो. सैयद अली एहसान ने कहा है कि हिंदी भारत की एकता की भाषा है। भावात्मक एकता के लिए हिंदी के साथ ही समस्त भारतीय भाषाओं का भी प्रसार पूर्ण रूप से होना चाहिए। हिंदी को प्रमुखता इसलिए दी जानी चाहिए क्योंकि विद्वानों के अनुसार वह सागरस्थली भाषा है। आज से करीव ७० वर्ष पहले कविगुरु रवींद्रनाथ ने लिखा था- 'एई भारतेर महामानवेर सागरतीरे।' तदनुसार इस देश को महामानवता का सागर कहा। इसमें मनुष्य की न जाने कितनी धाराएं मिलकर विलीन हो गयीं। उनके कथनानुसार भारतीय रक्त में सवका सुर ध्वनित हो रहा है। उसी प्रकार हिंदी में अनेक वोलियां और भाषाएं आकर मिल गयीं हैं। इसका स्वरूप वनता विगड़ता और वदलता रहा है। सागर के समान ही यह गहरी भी है, इसमें तो वस प्रेम की लहरें ही तरंगित हो रही हैं। इसका किसी से विरोध नहीं। अतएव इसका विस्तार और प्रसार होना ही चाहिए।

हिंदी अपनी माता संस्कृत की विपुल संपत्ति की एकमात्र अधिकारिणी है। भारत की भारती का यह पर्याय वन चुकी है। यही हमारी दिव्य संस्कृति की भव्य संवाहिका है। इस मंगलमय संस्कृति का दूर तक उद्घोष करने में यह पूर्ण सक्षम है। इसे हम राष्ट्रीय समन्वय की भाषा कह सकते हैं। नाथपंथी, सहजयानी सिद्धों ने इसे जन्म दिया। महाकवि चंद ने इसे अपनाकर वीर रस से सींचा। कविकोकिल विद्यापति, महाकवि सूर एवं नंददास ने इसकी मुरली में मधुर तान फूँकी। कवीर, जायसी, कुतुवन, रहीम एवं रसखान ने इसी माध्यम से भक्तिभावना की निर्झरिणी वहायी। गोस्वामी तुलसीदास ने इसे सत्यं शिवं सुंदरं से मण्डित किया। केशव, विहारी, मतिराम एवं देव ने विविध अलंकारों से अलंकृत किया। मीरा, घनानंद एवं वोधा ने इसमें प्रेम के मधुर गीत गाये। भारतेंदु, मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण, प्रसाद, निराला, नवीन, सुभद्रा, माखनलाल, दिनकर, एवं सोहन लाल द्विवेदी ने स्वतंत्रता संग्राम हेतु सर्वस्व न्यौछावर करने की प्रेरणा दी। पंत, महादेवी, वच्चन, सुमन, मुक्तिवोध, भवानी भाई, भारती एवं अनेक कविगण इसी के माध्यम से मां भारती का पूजन अर्चन करते रहे हैं। पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, प्रेमचंद, जैनेंद्र, राहुल, रघुवीर, यशपाल, अज्ञेय, वासुदेवशरण एवं हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि ने इसके भण्डार को समृद्ध किया है। निस्संदेह मानवीय जीवनमूल्यों की स्थापना में हिंदी अत्यधिक सहयोगी सिद्ध हो सकती है। देश के पचहत्तर प्रतिशत लोगों द्वारा समझी जाने वाली हिंदी जन जन की भाषा है। राष्ट्रीय चेतना की यह सशक्त कड़ी है। यही राष्ट्रीय एकता को प्रस्थापित कर सकती है। भारतीय संविधान ने भी हिंदी को अंतर्प्रान्तीय संपर्क भाषा की मान्यता दी है। महान भारत की सर्वाधिक भाषाओं का सही प्रतिनिधित्व हिंदी ही कर सकती है। आवश्यकता इस वात की है कि इसके राष्ट्रीय संदर्भ को सभी पहचानें।

आधुनिक राष्ट्रीय सांस्कृतिक जागरण तथा गुटनिरपेक्ष आंदोलन की प्रभावकारी शक्ति के रूप में भारत के खड़े होने के कारण, हमारे देश में यह विश्वास हिलोरें लेने लगा है कि हम आत्मनिर्भर वनेंगे और मानवता का संरक्षण हमारी संस्कृति के प्रसार से ही संभव होगा। अपनी अंतर्निहित शक्ति पर हमारा विश्वास पहले से अधिक जमा है। हमारा साहित्य भी समृद्ध होता जा रहा है। विरासत में संतों का विपुल साहित्य हमें जो मिला है, उसमें सार्वदेशिकता का संदेश है। रवींद्रनाथ, विवेकानंद, शरद्चंद्र, निराला, दिनकर, मैथिलीशरण गुप्त, परशुराम चतुर्वेदी तथा हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि अनेक साहित्यकारों ने संतों के पावन संदेशों को नयी शक्ति देकर सुंदर अभिव्यक्ति दी है। इसमें संदेह नहीं कि हमारा भावी साहित्य, मानवीय मूल्यों एवं उदात्त गुणों से और भी समृद्ध होगा और राष्ट्रीय ऐक्य तथा विश्वभाषा के संदर्भ में राष्ट्रभाषा हिंदी का सर्वाधिक महत्व प्रतिपादित होगा। ●

डा. रामविलास शर्मा : एक कालजयी साम्यवादी ऋषि

- डॉ. सुरेंद्र तिवारी

हिंदी में प्रगतिवादी समीक्षा के प्रतिनिधि एवं प्रतिष्ठित आलोचक के रूप में डॉ. रामविलास शर्मा सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। आरंभ में उन्होंने राजनीतिक चेतना को आधार बनाकर आलोचना जगत् में प्रवेश किया तदुपरांत उनकी आलोचनात्मक दृष्टि सामाजिक चेतना से ओतप्रोत होती चली गयी और उनकी आलोचना का स्वस्थ रूप सामने आया। शर्मा जी साहित्य के संदर्भ में प्रगतिशीलता का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं- 'साहित्य की प्रगतिशीलता का प्रश्न वास्तव में समाज पर साहित्य के शुभ और अशुभ प्रभाव का प्रश्न है, प्रगतिशील साहित्य तभी प्रगतिशील है जब वह साहित्य भी है तथा श्रेष्ठ साहित्य सदा प्रगतिशील होता है।' (प्रगति और परंपरा, पृ. ४६-५०) इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रगतिवादी (साम्यवादी) आलोचकों में डा. रामविलास शर्मा की पकड़ सबसे मजबूत है। उनके कहने, समझने के ढंग और अंदाज अलग हैं। उनकी प्रगतिशीलता का अर्थ प्रकृति की रचना प्रक्रिया, उसके कलात्मक सौंदर्य बोध को समाज की एक इकाई मानने से है। उन्हीं के शब्दों में- 'न तो समाज निरपेक्ष व्यक्ति की सत्ता होती है और न समाज निरपेक्ष सौंदर्यानुभूति की संभावना होती है।' (आस्था और सौंदर्य, पृ. ३३)

डॉ. शर्मा किसी रचयिता या रचना का मूल्यांकन करते समय उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि पर पूरी तरह विचार करते हैं। यह बात हमें भारतेंदु युग, शुक्ल युग तथा प्रेमचंद युग पर लिखी गयी उनकी आलोचनात्मक पुस्तकों में देखने को मिलती है। वे साहित्य की मूलभूत मान्यताओं में सामाजिक प्रगति को सबसे अधिक महत्व देते हैं। इसीलिए वे आचार्य शुक्ल की 'लोकमंगल की भावना' के भी प्रशंसक हैं। उनका यह दृष्टिकोण सबसे अधिक स्पष्ट हुआ है उनकी बहुचर्चित आलोचनात्मक कृति 'निराला की साहित्य साधना' में। इस ग्रंथ के प्रथम खंड में उन्होंने निराला के व्यक्तित्व और उसके समघटक सामाजिक परिवेश को बड़े विस्तार के साथ सोदाहरण समझाया है। इससे प्रतीत होता है कि वे किसी रचना या रचनाकार के निर्माण में उस युग के सामाजिक परिवेश को महत्वपूर्ण मानते हैं। उनका विश्वास है कि साहित्यकार की परिस्थितियाँ और जीवनपद्धति भी उसके साहित्य को दूर तक प्रभावित करते हैं इसीलिए साहित्यकार के मूल्यांकन के संदर्भ में इन तथ्यों को नजर अंदाज नहीं किया जा सकता। इसीलिए उन्होंने निराला संबंधी अपनी आलोचना को मुकम्मल बनाने के लिए उनकी चिट्ठी पत्री तक को प्रकाशित कराया है। इस प्रकार इस पुस्तक में निराला के जीवन को जिस प्रकार प्रस्तुत किया गया है वह शर्माजी की संवेदनशीलता एवं सूक्ष्म अन्वेषण दृष्टि का परिचायक है। इसीलिए उन्होंने छायावादी काव्य की व्यक्तिवादी धारणाओं का खंडन कर आलोचना में निहित सामाजिक चेतना का मार्ग प्रशस्त किया है। उन्होंने 'भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश' (दो भाग) नामक अपनी पुस्तक में ऐतिहासिक चिंतन के द्वारा ऋग्वेद, महाभारत, वेद, पुराण, धर्मशास्त्र, दार्शनिक यथार्थवाद, कौटिल्य और कालिदास आदि के माध्यम से भारतीय संस्कृति का गहरा अध्ययन प्रस्तुत किया है। डा. शर्मा ने साहित्य, समाजशास्त्र, इतिहास, भाषा विज्ञान आदि पर अनेक कृतियों की सर्जना की है जिससे उनका वैचारिक विश्लेषण एवं रचना को परखने की उनकी क्षमता प्रमाणित होती है।

डा. रामविलास शर्मा की कालजयी आलोचनात्मक दृष्टि की एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने ऋग्वेदकालीन सभ्यता और संस्कृति की साम्यवादी दृष्टि से खोजबीन की है। उन्होंने अन्वेषण के बाद यह उद्घोष किया कि हिंदू जाति का स्पष्ट संबंध सिंधु घाटी की सभ्यता से न होकर

'सारस्वत सभ्यता' से है। सारस्वत सभ्यता सिंधु घाटी की सभ्यता से पहले की है और सारस्वत क्षेत्र वही है जहाँ ऋग्वेद रचा गया। इस प्रकार वे मोहनजोदड़ो और हड़प्पा सभ्यता को भी सिंधु घाटी की सभ्यता नहीं मानते। वे इसे 'सारस्वत सभ्यता' मानते हैं जिसे आर्यों ने बाहर से आकर नष्ट नहीं किया अपितु सरस्वती नदी के विलुप्त हो जाने से वह पर्यावरणीय कारणों से नष्ट हो गई। वे स्पष्ट कहते है कि मार्क्स और एंगेल्स ने जिस द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को अपनी विचारधारा का मूल माना वह ऋग्वेद में खुलकर खेल रहा है। आप उसे ऋग्वेद में कहीं भी पा सकते हैं। अग्नि में जल है और जल में अग्नि। ऋग्वेद में इहलोकवादिता का ही बोलवाला है। वह परलोक को जानने और साधने का नहीं, इहलोक को जानने और उसमें जीने की तीव्र और बलशाली आकांक्षा के साथ रहने का ग्रंथ है। उन्होंने ऋग्वेद के माध्यम से यह भी खोजा और बताया कि आर्य उत्तर भारत के ही आदिवासी हैं। वस्तुतः आर्यों के संबंध में डा. शर्मा का यह विचार एक दम नया नहीं है बल्कि इसके पूर्व छायावादी कवि जयशंकर प्रसाद ने अपने लेख 'प्राचीन आर्यावर्त प्रथम सम्राट इंद्र और दाशराज्ञ युद्ध' (काव्य और कला तथा अन्य निबंध में संग्रहीत) में भी आर्यों को भारत का मूल निवासी सिद्ध किया है।

डॉ. रामविलास शर्मा मार्क्सवादी होते हुए भी कट्टर और अंध साम्यवादी कभी नहीं रहे। जब दुनिया में रूस और भारत में नेहरू का बोलबाला था तब वे यह लिख चुके थे कि सर्वहारा की तानाशाही एकदम गलत अवधारणा है और इससे सत्ता एक निहित स्वार्थी वर्ग के हाथ में वैसे ही चली जाती है जैसे पूँजीवादी व्यवस्था में। कम्युनिस्ट वर्ग के भीतर ऐसी खरी बात कहने वाले डॉ. शर्मा ही थे। उन्होंने भारतीय कम्युनिस्टों के कट्टर कम्युनिज़्म को कभी बर्दाश्त नहीं किया। उनका विचार है कि प्रगतिशील जनवादी परंपरा कायम करनी हो तो लेखक को अपनी जमीन पर खड़ा होना होगा तथा अपनी परंपरा से जुड़ना होगा।

हिंदी में मौलिक इतिहास लेखन के क्षेत्र में आचार्य रामचंद्र शुक्ल तथा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के बाद गतिरोध आ गया था। इस गतिरोध को तोड़ते हुए हिंदी में मौलिक इतिहास लेखन का कार्य डा. रामविलास शर्मा ने ही किया। यद्यपि उन्होंने भी संपूर्ण इतिहास लेखन का कार्य नहीं किया फिर भी कुछ युगों एवं विशिष्ट व्यक्तियों पर अवश्य लिखा है। उन्होंने इतिहास लेखन के क्षेत्र में उन समस्याओं की ओर ध्यान दिलाया है जिनका समाधान इतिहास लेखन के लिए जरूरी है। इस संबंध में डा. शर्मा का विचार है कि इतिहास और समाजशास्त्र की ऐसी अनेक समस्याएं हैं जिनका समाधान किये बिना हिंदी साहित्य का इतिहास संतोषजनक ढंग से नहीं लिखा जा सकता। उन्होंने नवजागरण से भारतीय संगीत को जोड़ा है। वे साहित्य में नवजागरण का समय तेरहवीं शताब्दी के आरंभ से अंगरेजी राज्य के कायम होने तक मानते हैं, साथ ही संगीत का नवजागरण काल भी वहीं मानते हैं। इस प्रकार उनका मत है कि साहित्य के इतिहास को संगीत के इतिहास से अलग नहीं किया जा सकता। इसीप्रकार उन्होंने भक्तिकाल को भारतीय लोकजागरण के परिप्रेक्ष्य में देखने का कार्य किया है।

डा. शर्मा भाषा विज्ञान के ज्ञान को साहित्यकार के लिए आवश्यक मानते हैं। उनका विचार है कि समाज की बहुत सी ऐसी बातें जो इतिहास से मालूम नहीं होतीं उन्हें हम भाषाओं के इतिहास से मालूम कर सकते हैं। भाषा के रूप में मनुष्य अपनी रचनात्मक क्षमता का जैसा परिचय देता है वैसा परिचय और किसी तरह से नहीं दे पाता। इस प्रकार मनुष्य का अवचेतन कैसे काम करता है यह भाषा से ही ज्ञात किया जा सकता है। डा. शर्मा राष्ट्रीयता के विकास को समझने के लिए भाषा, भाषा विज्ञान के अध्ययन पर विशेष बल देते हैं।

हिंदी का यह कालजयी रचनाकार अपने जीवन के अट्ठासी वर्ष तक एक तरफ मार्क्सवाद को आधार बनाकर चला तो दूसरी तरफ अपनी परंपरा को ऋग्वेद से जोड़ा। वे साक्षात् साम्यवादी ऋषि ही थे। ●

नईम के गीत और समाज

- डॉ. विशु मेंघनानी

संदर्भों के बदलने के परिणाम स्वरूप जो नये संबंध पनपे नवगीत उनका ही परिणाम है। हिंदी नवगीत यात्रा क्रम के सहयात्री नईम हैं जो कि इस काव्यधारा के विकास क्रम का सही रूप में प्रतिनिधित्व करते हैं। नईम मालवा क्षेत्र के वासी थे। इस कारण उनके अधिकांश नवगीतों की रचना मालवा की माटी पर ही है।

नईम के गीत घृणा, द्वेष, हिंसा, असहिष्णुता, धर्म के नाम पर संघर्ष, रक्तपात, सबका शिकार होते और आम आदमी की जलालत भरी जिंदगी जीता हुआ चोरों, लुटेरों, हत्यारों से घिरे उन्हें संरक्षण देते हुए और उससे शासक समुदाय, मेहनतकश वर्ग की यातनाओं से अत्यंत तीखे और तल्ख तेवर में सामना कराने वाले के रूप में हैं। नईम के गीत किसान और मेहनतकश तबके की जिंदगी के दस्तावेज हैं। नईम के गीतों को पढ़ने से पक्षी प्रेम, सौंदर्य, प्रकृति, पशुपक्षी, पेड़-पौधों, नदियों-सरोवरों, मालवा की मिट्टी की सुगंध से हमारा परिचय हो जाता है। इनके गीतों में मानव की पीड़ा प्रत्येक गीत पढ़ने वाले का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। ऐसे जनसमूह से जुड़े जो हर वक्त अभाव, दुःख-दर्द और घुटन की जिंदगी जीने के लिए अभिशप्त है, संवेदनशील वातावरण को वर्णित करता हुआ एक गीत द्रष्टव्य है-

दुर्घटना सी भोर
हादसे से, सूरज दिन।
मिमियाती शामें, दोपहरी जैसे बाघिन-
बूढ़ी हुई समय से पहले/ उम्र अभागिन।
धरती के पृष्ठों पर ऋतुयें लिखी रह गयीं,
बिन बाँधे पत्रों सी अपनी व्यथा सह गयी,
पावस तो मावस/पूनम ज्यों उलटी नागिन

आम आदमी जीवन में व्याप्त दुख, चिंता, भय, अभाव एवं कदम-कदम पर खड़ी मुश्किलों तथा टूटे हुए सपनों से दुखी है, कष्ट भोग रहा है, अपने जीवन को नर्क बना रहा है। यह उसका अपना दोष है जिससे यह सब उसको भोगना पड़ रहा है। नईम ने आंचलिक परिवेश से युक्त गीतों को माध्यम बनाकर रस, गंध, रूप, वातावरण में रंग भरे हैं। इन वर्णनों में उनकी अत्यंत यथार्थवादी दृष्टि मौजूद है।

देखते रहे सपने सोने के,
समर्पिता बांहों में होने के,
माटी के पुतले ही-
थे आखिर भूप नहुष।
अवसर निःशेष हुए बौने के
आते दिन दिखे नहीं गौने के,
उखड़ गये खेत, खले
अच्छे भले मानुष।

नईम भारतीय संस्कृति से ओतप्रोत गीतकार हैं, उनके गीतों में भारत की आत्मा प्रतिबिंबित होती, प्रदर्शित होती है-

नीले जल झीलों के
बतखों सी तैर रही
पुरवइया क्वार की

आज का समाज अर्थ प्रधान समाज है ऐसे समय में इंसानियत और मानवीय गुणों के लिए जीवन में कोई स्थान नहीं है, आदमी बिना पैसे के दो कौड़ी का हो गया है। मनुष्य सशक्त प्रयत्नों के बावजूद अपने जीवन की लड़ाई कदम दर कदम हारता जा रहा है और वह बेचारा और नगण्य मात्र रह गया है। इसी भावना से ओतप्रोत नईम जी का यह गीत सार्थक है-

मुड़े हुए पृष्ठों से जिल्द में बंधे हैं हम।
हाथ के पसीनों से रचे हुए,
भाग्य के थपेड़ों से पचे हुए,
मानक होने की प्रत्याशा में-
पाद टिप्पणी होकर बचे हुए।
धुरी हीन जीवन की डोर पर सधे हैं हम।

आज का मनुष्य पूंजीवादी युग में जी रहा है, आज उसके लिए पैसा ही सबसे बड़ा सत्य है। आज के सारे

संबंध पैसों पर ही आधारित है।

खास तो कुछ नहीं, लेकिन चलन ऐसा,
प्रिया, पत्नी सभी का है बाप पैसा।

इस समाज में सारे रिश्ते नाते धूप और छांव की तरह हैं जो कि पैसे के आधार पर ही बनते और बिगड़ते हैं, इनका स्थायित्व चिंतनीय है।

धूप चाँदनी के नाते रिश्ते।
सुख-दुख के पर्दे
कुछ गाढ़े, कुछ झीने से
फिर भी लगाये हैं
हम इनको सीने से।

नईम जी ने किसानों के जीवन पर अत्यंत बारीकी से दृष्टि डाली है। जो किसान अन्न उगाता है, सभी मनुष्यों को अन्न देकर सबका भरण पोषण करने वाला है, वही किसान स्वयं आज दाने-दाने को मोहताज है क्योंकि कभी सेठों के, महाजनों-सूदखोरों व समाज की व्यवस्थाओं द्वारा छला जाता है तो कभी प्राकृतिक आपदाओं जैसे बाढ़, सूखा, अकाल आदि विनाशकारी घटनाओं से त्रस्त होता है, जिससे इसके जीवन में सुख के दिन कम होते दिखते हैं। प्रेमचंद की दृष्टि भी किसानों पर पड़ी थी और उन्होंने अपने कथा साहित्य में किसानों की दशाओं का मर्मस्पर्शी वर्णन किया। गोदान में होरी की संपूर्ण इच्छाओं, आकांक्षाओं का ही गोदान हो जाता है। इस प्रकार कठिन परिवेश में जिंदगी जीने वाले किसान की अधिकारियों व लुच्चे लोगों की गाली-झिड़क सुनकर जिंदगीयापन करने की नियति होती जा रही है-

गाली झिड़की खाते, छूंछी लाज जी रहे
खेतों का मुँह देख खेतिहर आज जी रहे
जमीं सदियों से इन पर
धूल धूयें, धूपों की परतें,
जीने से ज्यादा मरने की
हैं हरजाई, कमीनी शर्तें
इनके हाड़ मांस पर शतशः कौवे चीलें बाज जी रहे।

नईम को चाहे भारतीय ग्रामीण शोषण का वर्णन करना हो या गांवों में चलने वाले दांव पेंच का, शोषकों-साहुकारों का चरित्र हो या नौकरशाहियों के कारनामों का लेखा जोखा प्रदर्शित करना हो, सभी का चित्रण बहुत तीखे अंदाज में करते हैं-

उनकी धौंसे -दपटें उनकी अफ़लातूनी
बड़ बोले दिन, विवाद रातें हैं बातूनी
इज्जत का मामला लिये फिरें
भले गृहस्थ, निस्पृह थाने, कोरट
अमले अफसर तटस्थ
क्षार ये-लगाये हैं वो रमाते हैं धूनी

किसानों के समान ही निम्नवर्गीय मनुष्य की सारी छटपटाहट, टीस, बेचैनी, अकेलापन इनके कवि हृदय को छू जाते हैं। जो कि गीतों के माध्यम से मुखर होकर व्यक्त होते हैं-

किसने छीन ली नजदीकियाँ?
वक्त ने नोचे हमारे पंख
कातर क्रौंच सी परछाइयाँ
घाव तक सहमे हुए/सहमें हुए बर्बर तरीकों से।

एक तरफ हम सभ्यता के चरमोत्कर्ष पर पहुँच गये हैं और दूसरी ओर हमारे अंदर आदिम समाज की बर्बरता और पशुता नये रूपों में पनपती जा रही है। धर्म ग्रंथों पर रखे हुए हाथ अधर्म कर रहे हैं, इंसान पशुता की ओर अग्रसर हो रहा है, जिससे आज के दौर में बढ़ते हुए संशय, अविश्वास, अनिश्चय और छल को बढ़ावा मिल रहा है। यहाँ तक कि जो बताते हैं कि यह संसार मिथ्या, असार क्षणभंगुर है वे संत महंत, मौलवी, पुरोहित आम आदमी को लूटने से पीछे नहीं हटते और समाज को धर्म, वर्ण, जाति में विभाजित कर अपनी स्वार्थपूर्ति करते हैं-

इतिहासों के घटिया चरणों में
रंग, नस्ल, जाति और वर्णों में
बाँटते रहे जन को निराधार
पाण्डु पुत्र, कौरव और कर्णो में।

इस प्रकार नईम के गीत युगीन जीवन की समस्याओं के संबंधित हैं ज़ो कि वर्तमान समाज में तेजी से जड़ जमा रहे हैं। इनके गीत नकारात्मक मूल्यों , स्वार्थ, अकेलापन, अजनबीपन, अलगाव, अविश्वास, छल प्रपंच, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, लूट, हत्या, व्यभिचार, अवसरवादिता, कुंठा, संत्रास आदि का बहुत बारीकी से चित्रण करते हैं। इन समस्याओं से युक्त जीवनयापन कर रहे निम्न व मध्यवर्ग के मनुष्यों की सारी छटपटाहट, टीस व बेचैनी इनके गीत का अंग बनकर व्यक्त होती है। ●

पुस्तक का नाम - श्री वल्लभाचार्य महाप्रभु और पुष्टिमार्ग

रचनाकार - गजानन शर्मा

प्रकाशक - सौ. शान्ता-श्यामसुन्दर झंवर स्मृति प्रकाशन, इंदौर-८

संस्करण - २००४, पृष्ठ - ६४

मूल्य रु. - १२.०० मात्र

श्री श्यामसुन्दर झंवर ने ज्ञानयज्ञ करने का संकल्प लेकर सामान्यजन को धर्म और दर्शन की रसात्मक अनुभूति कराने के लिए और भारत के महनीय लोकोपयोगी संतों और आचार्यों के उदार जीवन तथा लोकमंगलकारी विविध कार्यों से सुपरिचित कराने के लिए लघु, किंतु सरल भाषा में उच्चस्तरीय पुस्तकों के प्रकाशन का श्रीगणेश किया है। उस श्रृंखला की यह महत्वपूर्ण पुस्तक है।

इसके लेखक अत्यंत समर्थ आचार्य गजानन शर्मा हैं जिन्होंने देश विदेश में अपनी विद्वता के लिए सम्मान प्राप्त किया है तथा पुष्टिमार्ग और वल्लभ संप्रदाय के विशाल साहित्य का लेखन और संपादन किया है। इस पुस्तक में आचार्य शर्मा ने वड़ी वड़ी वातों को अत्यंत लाघव में प्रभावकारी ढंग से स्पष्ट किया है।

लंवी म्लेच्छ तथा औपनिवेशिक पराधीनता की ध्वंस लीला में भारत का वहुत कुछ नष्ट हो गया, किंतु संतों, आचार्यों तथा कवियों और अनुयायियों के सद्प्रयास से वहुत कुछ वच भी गया। विद्या केंद्र नष्ट होने से जनता अशिक्षित हो गयी थी। किंतु अव परिवर्तन चक्र अनुकूल दिशा में घूमने लगा है। अतः ज्ञान क्षेत्र में श्रेष्ठ उत्तराधिकार को जन जन तक पहुंचाना अत्यंत आवश्यक है। एतदर्थ श्यामसुन्दर झंवर और आचार्य डा. गजानन शर्मा वड़े उत्तरदायित्व के साथ आगे आए हैं। उसी क्रम में यह पुस्तक भी सामने आई है।

उनके पिता लक्ष्मण भट्ट और माता इल्लम्मागारू थीं। इनका जन्म वैशाख कृष्ण ११, सं. १५३५ ई. को वाराणसी में मुस्लिम आक्रमण के भय से पलायनयात्रा में 'छत्तीसगढ़ के चंपारण्य (रायपुर) स्थान में हुआ। इनकी मेधाशक्ति को देखकर इन्हें 'वाल सरस्वती' कहा जाता था। उन्हें वैश्वानर (अग्नि) का अवतार माना जाता था। धर्मप्रचार जनजीवन की रक्षा तथा लोककल्याण के लिए तीन वार भारत भर की यात्राएं कीं। वे श्रीकृष्ण के अनन्य उपासक थे।

पुस्तक में महाप्रभु वल्लभाचार्य के विराट व्यक्तित्व का वर्णन किया गया है तथा उनके समस्त साहित्य का विवरण भी है। दार्शनिक दृष्टि से उनके मत को 'शुद्धाद्वैत' कहा जाता है। शंकराचार्य के 'अद्वैत' भर्तृहरी प्रपंच के 'अविभागा द्वैत' और रामानुजाचार्य के 'विशिष्टाद्वैत' आदि से पृथकता वतलाने के लिए वल्लभाचार्य के सिद्धांत को 'शुद्धाद्वैत' कहा गया।

शुद्धाद्वैत क्या है? 'शुद्ध का अर्थ है माया के संवंध से रहित। व्रह्म शुद्ध है, जीव शुद्ध है और जगत शुद्ध है। व्रह्म और जगत के अद्वैत संवंध हैं। यह श्री वल्लभ का शुद्धाद्वैत सिद्धांत है।'

उन्होंने कृष्ण के प्रति अपनी भक्ति पद्धति के सिद्धांत का नाम पुष्टिमार्ग रखा। देशकाल की भलाई को ध्यान में रखकर लोकजीवन के संगठन और परिष्कार के लिए उन्होंने कृष्ण के प्रतिसमर्पण (कृष्णशरणम्) को ही सवसे सुगम पथ वताया। सवके उद्धार के लिए अवतरित होने वाले सर्वसमर्थ, परमकृपालु भगवान श्रीकृष्ण ही अपने स्वरूप के वल से, प्रेमवल से, अपने भगवत् सामर्थ्य से जीवों का उद्धार कर सकते हैं- कृष्ण एव गतिर्मम। पुस्तक में पुष्टिमार्ग की २८ विशेषताओं का विवरण भी दिया गया है।

यह पुस्तक संक्षेप में, किंतु समग्रता में वल्लभाचार्य के जीवन और सिद्धांत का विवरण प्रस्तुत करती है। प्रत्येक गृहस्थ सनातनधर्मावलंवी के लिए उपयोगी पुस्तक है।

- मोहनलाल तिवारी

पुस्तक का नाम - अमृत कण

रचनाकार - डॉ. सुरेन्द्र वर्मा

प्रकाशक - उमेश प्रकाशन, १००, लूकरगंज, इलाहावाद

प्रथम संस्करण, मूल्य रु. - ६०.०० मात्र

साहित्यकार, दार्शनिक डॉ. सुरेन्द्र वर्मा ने 'अमृत कण' में 'आचारांग' (प्राकृत भाषा में जैन धर्म ग्रंथ) की कुछ गाथाओं, 'माण्डूक्य' और 'ईशावास्य' उपनिषदों तथा 'श्रीमद्भगवद्गीता' का हिंदी में सरल, संक्षिप्त, काव्यमय अनुवाद प्रस्तुत किया है। अनुवाद सुवोध है; न दुरूह है, न ही वोझिल।

उपर्युक्त दोनों उपनिषद तथा गीता भारतीय दर्शन के अति महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं। इनका उपर्युक्त विशेषताओं से युक्त

अनुवाद स्वागत योग्य है। अच्छा ही हुआ, इस त्रयी के अतिरिक्त ऊपर उल्लिखित जैन ग्रंथ की कुछ गाथाओं को भी 'अमृत-कण' में सम्मिलित किया गया है।

पुस्तक से कुछ उद्धरण, वानगी के तौर पर दे रहा हूँ-

'सुखाकांक्षी सभी/मृत्यु से डरते हैं सब!/फिर भी, लोग हिंसक क्यों हैं?' वर्तमान हिंसा प्रधान समय में यह प्रश्न सहज ही ध्यान आकृष्ट करता है।

उसी पृष्ठ पर :

'चित्त होता है नहीं स्थिर/ चलनी की तरह है!/ छिद्र इसमें अनगिनत!/मूर्ख है पर व्यक्ति इतना/चाहता उसमें/कि संग्रह कर सके जल!'

चित्त का स्वभाव है चंचल होना, अनवरत विचारों, भावों, संकल्पों का उठना। ऐसे में, कोई भी वस्तु, मूर्त या अमूर्त, कितनी ही मूल्यवान क्यों न हो, संग्रहीत या धारण नहीं की जा सकती। पृ. १८ पर 'माण्डूक्य उपनिपद' से दो पंक्तियाँ-

'वुद्धिमानी से विताएँ आयु हम/प्रार्थना मेरी यही है' वात साफ और सरल है। कइयों ने कही है। पर ध्यान आकृष्ट करती है, क्योंकि अधिकतर हम भावनाओं के आवेग में जीते हैं।

'माडूक्य उपनिषद' के एक अंश का यह काव्यगत अनुवाद परम तत्व व्रह्म के स्वरूप पर अच्छा प्रकाश डालता है-

'परमात्मन् से भी परे, अद्वैत है/न भीतर है, न बाहर है/ज्ञाता, न प्रज्ञाता/ व्यावहारिक सत्ता पार/अनुभवातीत है, देख हम सकते नहीं इसको/पकड़ना तो दूर/छू भी नहीं सकते,/अचिन्त्य है यह-/कोई भी लक्षण नहीं है/जो बताया जा सके/या कि जिस पर कर सकें चिंतन!/प्रंपचों से सर्वथा यह मुक्त है.... यही बस है/जानने लायक-अकेला, एक!' (पृ. २०-२१)

'ईशावास्य उपनिषद्' से यह उद्धरणीय है-

'प्राप्त है जिसको परम अनुभूति/ और जिसने कर लिया साक्षात्/प्राणियों में/आत्मिक एकत्व का/उस पुरुप को मोह क्या?/या शोक क्या?/ज्ञान के आलोक में है/वह विचरता!' (पृ. २६)

अद्वय परम तत्त्व व्रह्म सभी प्राणियों का मूल स्वरूप है। जिस व्यक्ति को इस अंतिम सत्य का साक्षात्कार हो जाता है, वह ज्ञानी मोह और शोक से ऊपर उठ जाता है।

डॉ. वर्मा ने अपनी इस लघुकाय पुस्तक में आधे से अधिक पृष्ठों में 'गीता' के अंशों को काव्यरूप में अनूदित किया है। पृ. ३६ पर उन्होंने लिखा है- गांधी जी गीता को 'प्रतिदिन का संदर्भ कोश', 'आचरण की अकाट्य निर्देशिका' और 'आध्यात्मिक संदर्भ पुस्तिका' कहते हैं। गांधी जी के ये अभिमत ध्यान देने योग्य हैं।

गीता के कुछ अनूदित अंशों को यहाँ प्रस्तुत किया जाता है ताकि पाठक को गीता पुस्तक की कुछ झलकियाँ मिल सकें।

'युद्ध लड़ने का मेरा निर्देश/युद्ध की निज श्रेष्ठता को नहीं करता सिद्ध/सिद्ध जो है बात वह कर्तव्य की है,/जो तुम्हें सौंपा गया कर्तव्य उससे/मुँह न मोड़ो/क्योंकि वह जो भागता है धर्म से/कायर वही है!' (पृ. ४४)

'सर्प के साथ ही रहना है अगर/क्यों न उसका दंश तोड़ें/भय रहित विचरें!' (पृ. ४५)

'जिसके कर्म में आशा नहीं फल की/ वह मुक्तिदायी कर्म वंधन काटता/रौंदता आसक्ति की जकड़न,/कामना को कर नियंत्रित/और मन को संयमित रख/ कर्ता, कर्म का ऐसा/पूरे समर्पण भाव से मेरे निकट आता!/आत्मज्ञानी इस तरह रह कर/विषय संसार में भी/डूवता उसमें नहीं है : कमल सा खिलता!' (पृ. ४८-४६)

'आज जो है रूप योद्धा का तुम्हारा/क्या वन गया था एक ही दिन में?/इसके लिए भी तो गुजारे/कठिन अनुशासन, प्रशिक्षण के,/युवा दिन अपने/वर्षों वर्ष तुमने!' (पृ. ५२)

'पुरुपार्थ से हम करें अपना कर्म/और कर्त्ताभाव को त्यागें/मन वुद्धि को अर्पित करें भगवान को!' (पृ. ५७)

उपर्युक्त उद्धरणों में गीता की चिर परिचित वातें हैं, पर हैं वहुत महत्वपूर्ण जो उत्तम जीवन का सलीका सिखाती हैं। हाँ यह अवश्य है कि ये शिक्षाएं व्यवहार में अत्यंत ही कठिन हैं। ऊपर कहा गया है, मनुष्य कर्म करे, पर फल की आकांक्षा न करे। साथ ही, वह अपने को कर्त्ता न माने, वल्कि परमात्मा का निमित्त माने। इससे अहं भाव पैदा नहीं होगा और परमात्मा के प्रति समर्पण का भाव दृढ़ होगा। यहाँ यह भी उल्लेख्य है कि कर्म जो करणीय है, करने योग्य है, धर्मरूप है। इस तरह, गीता निष्काम कर्म मार्ग को निःश्रेयस अर्थात् परम कल्याण का साधन मानती है।

प्राचीन भारतीय मनीषा के कतिपय उदात्त गुणों को सरल, रुचिकर ढंग से प्रस्तुत करती डॉ. वर्मा की यह किताव पढ़ने लायक है।

– डॉ. रमेश कुमार त्रिपाठी

श्रद्धांजलि सभा

हिंदी के प्रख्यात चिंतक और समीक्षक स्व. डॉ. मोहनलाल तिवारी को श्रद्धासुमन समर्पित करने हेतु नागरीप्रचारिणी सभा में श्रद्धांजलि सभा आयोजित की गई। सभा की अध्यक्षता करते हुए पं. शिवकुमार शास्त्री ने उन्हें अपनी भावपूर्ण श्रद्धांजलि दी और उनके अप्रकाशित साहित्य को प्रकाशित करने की मांग की। उन्होंने कहा कि साहित्यकार मुखापेक्षी होकर नहीं जीता। वह दिलेर आदमी थे, चले गये वह अचल के मुख में। उनका अभाव पीड़ा तो देगा ही किंतु काशी में मरण भी सुकर्मों का फल है। नागरीप्रचारिणी सभा के प्रधानमंत्री डॉ. पद्माकर पांडे ने स्व. मोहनलाल तिवारी के प्रति शोक संवेदना व्यक्त करते हुए कहा कि अनवरत पढ़ना और ज्ञान को पचाना उनकी आदत थी। साहित्यिक विंदुओं पर उठने वाले प्रश्नों का स्पष्टीकरण अपनी शोधी दृष्टि से देकर वे सभा का निरंतर सहयोग करते रहे।

पं. श्रीकृष्ण तिवारी ने उन्हें बड़े भाई के रूप में याद करते हुए उन्हें अपना प्रेरणास्रोत बताया। मूल्यों के प्रति आस्था रखने वाला डोम के हाथों विकना पसंद करता है और वही व्यक्ति इतिहास बनता है। न्यायमूर्ति गोविंद प्रसाद श्रीवास्तव ने उन्हें उद्‌भट वक्ता, प्रकांड विद्वान बताते हुए निजी संबंधों की चर्चा की। डॉ. धीरेंद्र सिंह (पत्रकार) ने भी श्रद्धांजलि दी। पं. धर्मशील चतुर्वेदी ने कहा कि वे अपनी हरकत से हलचल ला देते थे। काशी के अक्खड़पन को अपनी जीवनशैली से जीवंतता दी। डॉ. युगेश्वर ने कहा कि जवानी में मार्क्सवाद का रूसी-चीनी रोग तथा अंतिम दिनों में कैंसर जैसा अंग्रेजी रोग उन्हें हुआ। श्री हरिहर लाल श्रीवास्तव ने कहा कि वे महलों में भी बैठ सकते थे और फुटपाथ पर भी। श्री गणेशदत्त दूबे ने कहा कि 'मौत कितनी अजीव होती है, जिंदगी के करीव होती है' किंतु अपने साहित्य में वे हमेशा जीवित रहेंगे। डॉ. शितिकंठ मिश्र ने आत्मीयता का स्मरण करते हुए उन्हें श्रद्धांजलि दी। श्री पुरुषोत्तम दास मोदी ने कहा कि विश्वास नहीं होता कि जीवन में कभी हार न मानने वाला ऐसा जुझारू व्यक्ति मृत्यु से हार गया। डॉ. शुकदेव सिंह ने कहा कि मुझे पता नहीं चला कि वे इतने लोकप्रिय थे वरना सुनवाई होती या न होती ईश्वर से उनकी लंबी आयु की दुआ अवश्य करता। बहुत चलते हुए आदमी की ईश्वर को भी जरूरत थी? डॉ. भोलाशंकर व्यास ने कहा कि डॉ. तिवारी के जाने से मेरी अत्यधिक क्षति हुई है। उन्होंने फारसी भाषा भी पढ़ी थी।

डॉ. रमाशंकर शुक्ल ने कहा कि डॉ. मोहनलाल तिवारी अपने आप में एक जीवित संस्था थे। शोधार्थियों की मदद अपनी व्यक्तिगत चेतना के कारण करते थे। डॉ. प्रभात कुमार पाण्डेय ने कहा कि बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी डॉ. तिवारी विशेषीकरण के युग में हर विधा पर अपनी पकड़ रखते थे। डॉ. रणविजय सिंह ने कहा कि उनेक विचार सेतु ही आज वैचारिक पहचान है। डॉ. उदयप्रताप सिंह ने कहा कि हिंदी की रोटी तो सभी खाते हैं किंतु हिंदी की सेवा कम ही लोग करते हैं। वे रूढ़िविरोधी, साहसी, हिंदी सेवी विद्वान थे। श्रीरामप्रकाश शाह ने कहा कि वे मस्तिष्क से साम्यवादी थे। श्री अमरनाथ शर्मा ने उनके हंसमुख व्यक्तित्व की चर्चा की। श्री शारदा जी ने शब्दाकार रूप में उपस्थित होने की वात की। श्री श्याम विहारी त्रिपाठी ने कहा कि उनमें न मद था न मोह, वज्र से भी कठोर, फूल की तरह कोमल। नास्ति तेषां यशःकाये जरामरणजं भयम्' उनका यश रूपी आज भी जीवित है। मेरे हृदय में याद की तस्वीर है, जब चाहा सिर झुकाया देख लिया। डॉ. राधेश्याम द्विवदी ने कहा कि शब्द ज्ञान के रूप में वे आज भी हमारे वीच हैं। डॉ. सावित्री गौड़ ने कविता के माध्यम से श्रद्धांजलि दी। श्री आनंद जी ने कहा कि मोहनलाल तिवारी सामान्य कार्यकर्ता के संघर्षों का इतिहास हे। शिवसुन्दर गांगुली ने आपसी संबंधों की चर्चा की। डॉ. सुमन जैन ने कहा कि मुझे गर्व हे कि मुझे इतना श्रेष्ठ गुरु मिला। विभिन्न संस्थाओं से एक मिशन के रूप में जुड़े थे। डॉ. बृजबाला सिंह ने जीवंत व्यक्तित्व के धनी के रूप में उन्हें याद किया। डॉ. रामसुधार सिंह ने काशी की रचनाधर्मिता के एक अंग के रूप में स्व. तिवारी का स्मरण किया। श्री अशोक कुमार पाठक ने कहा कि स्व. तिवारी ने लोगों के हृदय में गहरी जगह वना ली थी। श्री भानु जी (अभिमन्यु पुस्तकालय के संरक्षक) ने उनकी स्मृति को नमन किया। शुक्ल शोध संस्थान की ओर से डॉ. कुसुम चतुर्वेदी ने कहा कि जनवादी लेखक संघ तथा नागरीप्रचारिणी सभा से हम दोनों समानरूप से जुड़े रहे। उनका जाना एक प्रश्नाकुलता को भी जन्म देता है। उनका अभाव एक भाव के रूप में स्वयं को छोड़ गया है। डॉ. कमल गुप्त ने कहा कि हम भिन्न भी थे अभिन्न भी थे, मित्र भी थे, अमित्र भी थे। वे शहर के सन्नाटे को तोड़ने के लिए खड़े रहते थे। हमारे वीच फासले का फैसला नहीं था। गीतकार अशोक कुमार सिंह ने कहा कि निश्चित रूप से वे जीवंत व्यक्ति थे। डॉ. रामअवतार पांडेय ने 'सद्गुरु की महिमा अनंत, अनंत कियो उपकार' के माध्यम से उन्हें याद किया।

सभा के अंत में दो मिनट का मौन रखकर दिवंगत आत्मा के प्रति मौन श्रद्धांजलि अर्पित की गई। ●

साहित्यिक हलचल

डॉ. बुद्धिनाथ मिश्र को निराला सम्मान

भारती परिषद, उन्नाव के ५१वें काव्य समारोह में २७ नवंबर, २००४ को सुप्रसिद्ध कवि-साहित्यकार एवं ओएनजीसी के मुख्य प्रबंधक (राजभाषा) डॉ. बुद्धिनाथ मिश्र को 'निराला सम्मान' से अलंकृत किया गया। इस अवसर पर उन्हें भारती परिषद के पदाधिकारियों द्वारा सरस्वती की प्रतिमा भेंट की गयी और सुप्रसिद्ध कवि शायर पद्मश्री बेकल उत्साही द्वारा प्रशस्ति पत्र अर्पित किया गया। समारोह के संयोजक श्री नीरज अवस्थी ने डॉ. बुद्धिनाथ मिश्र के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का संक्षिप्त परिचय दिया तथा प्रबंध समिति के अध्यक्ष श्री मुन्ना सिंह 'अवधूत' ने शाल ओढ़ाकर सम्मान किया। तदनंतर, विभिन्न पदाधिकारियों द्वारा माल्यार्पण कर श्री मिश्र का अभिनंदन किया गया। श्री उत्साही और श्री मिश्र ने 'स्मारिका' का लोकार्पण भी किया।

इस अवसर पर जनपद के यशस्वी कवि स्व. डॉ. शिवमंगल सिंह 'सुमन' की स्मृति में कवि-गीतकार श्री कैलाश गौतम को 'सुमन सम्मान' से अभिनंदित किया गया। तदनंतर, अखिल भारतीय कवि संमेलन हुआ, जिसकी अध्यक्षता सुप्रसिद्ध गी.तकार श्री गोपालदास 'नीरज' और श्री बेकल उत्साही ने संयुक्त रूप से की। इसमें उपर्युक्त कवियों के अलावा श्री सोम ठाकुर, श्री आत्म प्रकाश शुक्ल, श्री सुरेन्द्र सुकुमार, श्रीमती रागिनी चतुर्वेदी, श्रीमती सरिता शर्मा, श्री अंसार कंबरी आदि ने काव्य पाठ किया। अंत में भारती परिषद के संस्थापक सदस्य श्री कमला शंकर अवस्थी ने धन्यवाद ज्ञापन किया।

भारत सरकार का प्रशस्ति पत्र

भारत सरकार के गृह मंत्रालय द्वारा २९-३० अक्टूबर, २००४ को चंडीगढ़ में आयोजित क्षेत्रीय राजभाषा संमेलन में डॉ. बुद्धिनाथ मिश्र को अहिंदी भाषी क्षेत्र में भारत सरकार की राजभाषा नीति के श्रेष्ठ निस्पादन के लिए प्रशस्ति पत्र प्रदान किया गया। भारत सरकार के राजभाषा सचिव श्री बालेश्वर राय की अध्यक्षता में संपन्न इस समारोह में केंद्रीय गृह राज्य मंत्री श्री माणिकराव गर्वित ने यह प्रशस्ति पत्र उन्हें प्रदान किया।

समारोह में गृह मंत्रालय के संयुक्त सचिव, निदेशक (कार्यान्वयन) आदि के अलावा दिल्ली, उत्तर प्रदेश, उत्तरांचल, हरियाणा, पंजाब, जम्मू एवं कश्मीर तथा चंडीगढ़ स्थित भारत सरकार के कार्यालयों, उपक्रमों एवं बैंकों के लगभग ५०० प्रतिनिधि उपस्थित थे। ●

जन्मदिवस की हार्दिक शुभकामनाएं

आचार्य पं० सीताराम चतुर्वेदी

जन्म-२७ जनवरी, १९०७

नागरीपत्रिका (पंजी. सं. १५२५१/६७) डाक रजि. नं. पी. एम. जी./रजि./ए.डी.१७९/२००३, दिनांक ६-५-२००३

पं. सुधाकर पांडेय

के कुछ अनन्य ग्रंथ

- बिहारी सतसई
- रसलीन ग्रंथावली
- सोमनाथ ग्रंथावली (तीन भागों में)
- कृपाराम ग्रंथावली
- कृपाराम और उनका साहित्य
- बोधा ग्रंथावली
- गंगालहरी (पद्माकर कृत)
- रस विलास एवं सिष नष
- काव्य विलास
- काव्य प्रभाकर (भानु कवि कृत)
- मानस अनुशीलन
- बंग महिला ग्रंथावली
- श्यामसुंदर दास स्मृति ग्रंथ
- कामता प्रसाद गुरु स्मृति ग्रंथ
- मैथिलीशरण गुप्त स्मृति ग्रंथ
- गुलेरी : कथा, कहानी समग्र
- भारतीय भाषाओं की कहानियाँ
  गुलेरी ग्रंथावली भाग-३
- प्रसाद साहित्य
- कामायनी (रंगीन चित्रों सहित)
- पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'
- हिंदी भाषा और साहित्य
- बंगला, असमिया, उड़िया तथा हिंदी
- हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास भाग-९
  (द्विवेदी काल: सं.१९५०-१९७५ वि.)
- हिंदी विश्वसाहित्य कोश (तीन भागों में)
- हस्तलिखित हिंदी ग्रंथ सूची (तीन भागों में)
- हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों की खोज का
  विवरण (छह भागों में)
- बैताल पच्चीसी
- हिंदी काव्य गंगा भाग-१
- हिंदी कहानी गंगा (मधुकरी)
- नागरी निबंध गंगा

नागरीप्रचारिणी सभा

वाराणसी * नई दिल्ली